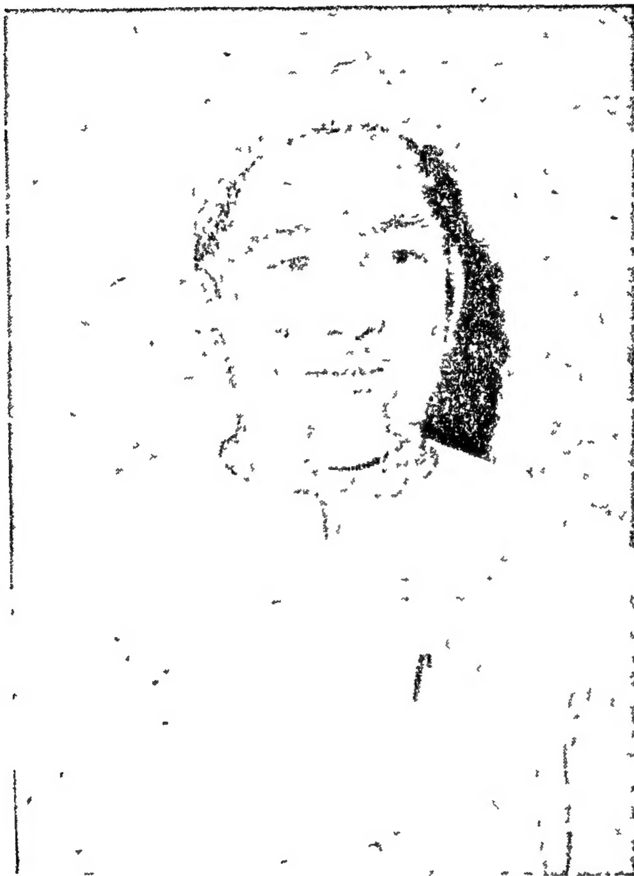
ग्रन्थ प्राप्ति स्थान—

१. गणेशीलाल रतनलाल कटारिया
मेवाड़ी बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

२. कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति १०००
वीर निर्वाणोत्सव, वीर नि० सं० २४६८
मूल्य स्वाध्याय

मुद्रक :
नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ (राजस्थान)



श्री महावीरप्रसादजी सांगाका पाटनी
किशनगढ़-रेनवाल
(जन्म-१८-२-१९२९)

निवेदन

इस असार संसारमें धर्म ही मनुष्यका एकमात्र सहायक है। धर्म रूपी नौकाके बिना इस संसार सागरसे पार पाना बड़ा दुष्कर कार्य है। देव, शास्त्र और गुरुके प्रति सच्चा विनय एवं दृढ़ आस्था रखनेवाला प्राणी मुक्तिके मार्गकी ही ओर अग्रसर होता है।

यह मेरा परम सौभाग्य था कि सिद्धचक्र मण्डलके यज्ञोत्सव पर मुझे आचार्यश्री एवं उनके संघके सम्पर्कमें आनेका अवसर मिला। गुरु-समागम बड़े पुण्योदयसे प्राप्त होता है और पूज्य श्री १०८ आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज एवं उनके सुयोग्य शिष्य पूज्य श्री १०८ मुनि श्री विद्यासागरजी महाराजके दर्शनसे मैंने स्वयंको कृतकृत्य अनुभव किया।

मेरी भावना हुई कि किसी प्रकारसे मैं अपने तन, मन, धनसे महाराजकी सेवामें लग सकूं तभी सुयोगसे आचार्यश्री रचित 'प्रवचनसार'के प्रकाशनकी बात चली तो मानो मेरी मनोकामना पूर्ण होती दिखाई दी। इस ग्रंथका प्रकाशन मैंने अपने पूज्य पिताजी श्री जमनालालजी सांगाका की पुण्य स्मृतिमें करवाया है। मेरी हार्दिक कामना है कि इस ग्रंथका प्रत्येक जैन परिवारमें नियमित स्वाध्याय हो, ग्रंथ प्रकाशनकी सार्थकता सच्चे अर्थोंमें तभी प्रकट हो सकेगी।

ग्रंथके अध्ययन मननसे जैनसमाजमें धार्मिक प्रवृत्तिकी ओर अधिकाधिक रुचि हो, तभी मैं अपने द्रव्यका सदुपयोग मानूंगा।

आचार्यश्री के चरणोंमें श्रद्धानत—

आशीर्वादका आकांक्षी

महावीरप्रसाद पाटनी

श्रीमान् सेठ जमनालालजी सांगाका (पाटनी)
संक्षिप्त जीवन परिचय

स जातो येन जातेन याति देश समुन्नतिम् ।
अस्मिन् असारसंसारे मृतः को वा न जायते ।।

भारत देशकी परम्पराएँ महान् रही हैं क्योंकि वसुन्धराने इस देशमें सदासे युद्धवीर, कर्मवीर और दानवीर विभूतियोंको जन्म दिया है। ऐसी ही दानवीर विभूतियोंमें राजस्थानके एक कस्बे किशनगढ़ रेनवालके निवासी स्व० श्री जमनालालजी सांगाका भी थे। यह कस्बा उन्हें कभी विस्मृत नहीं कर सकता क्योंकि धनकी तीन गतियोंमें से (दान, भोग, नाश) श्रेष्ठगति ही उनका लक्ष्य रही थी।

आप १५ वर्षकी अवस्थामें ही कलकत्ता चले गए थे और जीवनके अन्तिम समय तक वहीं रहे। नौकरीसे अपने व्यावसायिक जीवनकी शुरुआत कर आपने दलाली अपनाई। अपने पुरुषार्थसे पर्याप्त द्रव्य अर्जित कर सदैव उसके सदुपयोगकी चिंता इस सीधे-सादे व्यक्तित्वको सताती रही और इसीलिये मुक्त हस्तसे दान देना आपका स्वभाव होगया।

श्री सम्मेदशिखरजी तीर्थक्षेत्रमें तेरापंथी कोठीके अन्तर्गत आपने पाण्डुकशिलाका निर्माण कराया तथा तेरापंथी कोठीमें ही ५२ चैत्यालयोंकी रचनाके भीतर पंचमेरुजीका निर्माण कराया।

अपने मूल निवासस्थान रेनवालमें सांगाका जैन भवन, श्री दि० जैन चैत्यालय, श्री सुन्दरदेवी जैन पाटनी रा० प्रा० विद्यालय तथा श्री दि० जैन दातव्य औषधालयके भवन वर्षों तक आपकी उदार दानप्रियताकी घोषणा करते रहेंगे। 'यथा पिता तथा पुत्र' वाली उक्तिके अनुसार आपके सुपुत्र श्री महावीरप्रसादजी पाटनी भी अपने पूज्य पिताश्री का अनुसरण कर अपने पूर्वजोंकी कीर्तिको समुज्ज्वल करनेमें सचेष्ट हैं। श्री महावीरप्रसादजी आपके दत्तकपुत्र हैं। महावीरजी गोद आनेसे पूर्व निवाई निवासी श्री रोड़मलजी पाटनीके वसन्तकुमार नामधारी सुपुत्र रहे हैं। आपने निवाईमें श्री दि० जैन नशियाँमें एक चैत्यालयका निर्माण करवाया है।

प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पूर्ण प्रकाशन व्ययको वहन करनेकी स्वीकृति प्रदान कर आपने अतिशय उदारताका परिचय दिया है और समाजके अन्य धनिकोंके सामने भी आदर्श उपस्थित किया है।

मैं आपके उज्ज्वल भविष्य एवं दीर्घायुकी कामना करता हूँ।

—पं० विद्याकुमार सेठी, अजमेर



श्री जमनालालजी सांगाका पाटनी

जन्म-
फाल्गुन शुक्ला ४
सं० १६४५

—स्वर्गारोहण
माघ बदी १५
सं० २०२६

दो शब्द

गत आश्विन मासमें कुचामनके पर्यूषण पर्वको व्यतीत कर जब मैं आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागरजी महाराजकी सेवामें किशनगढ़ रेनवाल पहुँचा और प्रस्तुत ग्रन्थ प्रवचनसारको आद्योपांत पढ़नेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, उस समय मेरे भाव हुए कि वर्तमान कालमें दिगम्बर जैन समाजमें निश्चयनयकी मुख्यता तथा व्यवहारनयकी मुख्यताको लेकर बहुत खिंचाव हो रहा है, उनमें समन्वयमूलक सद्भावनापूर्वक आर्षमार्गका विरोध नहीं करते हुए सच्चा समाधान—लौकिक संस्कृत विद्याके धुरन्धर विद्वान्, आत्माके साधक, चिरतपस्वी, उपाध्याय एवं आचार्य परमेष्ठी द्वारा विरचित प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा ही हो सकता है। यह एक अनुपम अप्रकाशित निधि है; इसके प्रकाशनसे अध्यात्मप्रेमी भाइयोंको एक आदर्शमार्गकी सत्प्रेरणा प्राप्त होगी। हर्ष है कि मेरी इस प्रार्थना पर पूर्ण ध्यान देकर श्री १०८ श्री विद्यासागरजी महाराजने अपना अमूल्य समय व्यतीत करते हुए इसकी प्रतिलिपि पूर्ण करके दी। इस ग्रन्थकी कई विशेषताएँ हैं—

१. मूल ग्रन्थकी गाथाओंका केवल छायानुवाद ही नहीं बल्कि उसके मार्मिक लक्ष्यको अनुष्टुप् सरीखे छोटे श्लोकोंमें रचकर गागरमें सागर भरनेका प्रयत्न किया है।

२. इसके साथ ही श्लोकका भाव भी यदि कहीं स्पष्ट न हुआ हो तो उसीका समर्थक एक हिन्दी भाषामय पद्य बनाकर एक बड़ी कमीकी पूर्ति भी इस ग्रन्थमें आचार्य महाराज द्वारा की गई है।

३. सारांश एवं शंकापूर्वक सरल हिन्दी गद्यमें विवेचन करके तो आचार्यश्री ने अपने अनुपम पाण्डित्य एवं क्षयोपशमके द्वारा संस्कृतसे अपरिचित आबालवृद्ध सज्जनोंका बड़ा भारी उपकार किया है; स्थान २ पर प्रत्येक जटिल विषयको समझानेके लिए बड़ी सरल परिभाषायें लिखकर लौकिक दृष्टान्तों द्वारा उन गम्भीरतम विषयोंका सरलीकरण करके दिगम्बर जैन मुनि संघके अपवादको दूर करनेका बड़ा सुन्दर प्रयत्न किया है क्योंकि कई लोग ऐसा कहते हैं कि वर्तमानमें दिगम्बर जैन मुनियोंमें चौके और खानपानकी शुद्धि पर ही जोर दिया जाता है, इसके अतिरिक्त साधु महात्मा कुछ भी लोकके उपकार करनेका ध्यान नहीं रखते हैं। अधिक कहाँ तक कहा जाय, इस ग्रन्थके अत्यन्त सरल एवं हृदयमें अद्भुत ज्योतिके संचार करनेवाले वाक्य पढ़कर पाठक इस प्रयत्नकी भूरि २ प्रशंसा किए बिना नहीं रहेंगे।

आचार्यश्रीने आध्यात्मिक ग्रन्थोंके साथ २ उच्चतम साहित्यिक ग्रन्थोंका भी प्रणयन किया है। आप स्वर्गीय श्री १०८ आचार्य श्री वीरसागरजी एवं श्री १०८

आचार्यश्री शिवसागरजी महाराजके संघमें सफल उपाध्यायके रूपमें भी रह चुके हैं और इस वृद्धावस्थामें भी श्री १०८ श्री विद्यासागरजी सदृश विद्वान् साधुका निर्माण करके सदा ज्ञान और ध्यानमें ही लीन रहते हुए अभीक्ष्णज्ञानोपयोग भावनाकी पूर्ण साधना कर रहे हैं। इस कार्यकी श्री १०८ आचार्य धर्मसागरजी महाराज भी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं।

जब सम्यक्दर्शनकी महिमाके ही इतने गीत गाए जाते हैं तो सम्यक्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्रके एकात्मक रूप रत्नत्रय मोक्षके मार्गका क्या कहना है। हमारा उसके प्रति बहुमान कैसे नहीं होगा ? सम्यग्दर्शन रूपी वृक्षकी सफलता तो चारित्रसे ही है, सम्यग्दर्शन तो चारों गतियोंमें भी हो सकता है किन्तु सम्यक्चारित्रकी पूर्णता तो मनुष्यगतिके अतिरिक्त कहीं नहीं है।

मैं इस ग्रन्थके कई मौलिक अवतरणोंसे अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ और उन मार्मिक स्थलोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेके लिए पाठकोंसे निवेदन भी करना चाहता था किन्तु खांडकी रोटी जिधरसे तोड़ो उधरसे ही मीठी है। इस ग्रन्थका कोई भी भाग उपेक्षणीय नहीं है। यह सारा ही ग्रन्थ कमसे कम तीन बार पढ़नेके योग्य है।

इस ग्रन्थके प्रकाशनके मनोरथको पूर्ण करनेमें श्री महावीरप्रसादजी पाटनी, किशनगढ़ रेनवालसे हमें आर्थिक सहायताके रूपमें ५००१) रु० की राशि प्राप्त हुई, इसके लिए इनको ग्रन्थमालाकी ओरसे जितना धन्यवाद दें उतना ही थोड़ा है। ये बड़े उत्साही और कृतज्ञ सज्जन हैं।

ग्रन्थकी पूर्ण संलग्नतासे प्रेस कापी करके श्री पण्डित महेन्द्रकुमारजी पाटनी, काव्यतीर्थ, मदनगंज किशनगढ़ने प्रकाशन कार्यमें सक्रिय सहयोग दिया एतदर्थ उन्हें भी इस समय नहीं भुलाया जा सकता।

श्री नेमीचन्दजी बाकलीवालको भी सुन्दर एवं आकर्षक मुद्रणके लिए धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता, जिनके प्रयत्नोंके कारण यह ग्रन्थ इतना सुन्दर बन पड़ा है। आध्यात्मिक ग्रंथ एक शुष्क चट्टानके समान है जिसे कोई नहीं चाटना चाहता किन्तु आकर्षक एवं पठनीय ग्रन्थका छपना इस दिशामें बहुत आवश्यक प्रयत्न है।

विनीत :—

विद्याकुमार सेठी
न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ
(विद्याभूषण, सिद्धान्तभूषण)
भूतपूर्व हैड पण्डित
राजकीय ओसवाल जैन उच्च० विद्यालय, अजमेर

रेनवाल (किशनगढ़)
५-६-७१

अभिमत

(१)

पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराजके व्यक्तित्वसे पहिलेसे पूर्ण परिचय होते हुए भी किशनगढ़ रेनवालके चातुर्मास योगमें आचार्य महाराजकी विद्वत्ता, अध्यात्मप्रवचनशैली व ८५ वर्षकी अवस्थामें भी उत्कृष्ट संयम साधना को नजदीकसे देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

पूज्य महाराज द्वारा रचित प्रवचनसारकी टीकामें जैन दर्शनके गूढ़ तत्व अनेकान्तको ध्यानमें रखते हुए द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयकी समन्वयताके साथ जो वस्तुस्वभावका विवेचन किया गया है वह पठनीय होनेके साथ मनन करने योग्य है। मेरी हार्दिक भावना है कि पूज्य आचार्य महाराज शतायु होकर इसीप्रकार हम जैसे अज्ञानी जीवोंका सत्प्ररूपणाओं द्वारा मार्गदर्शन करते रहें।

गुलाबचन्द गंगवाल

२३-६-७१ किशनगढ़-रेनवाल

(२)

आचार्य कुन्दकुन्दप्रणीत प्रवचनसार पर आचार्य अमृतचन्द्र एवं जयसेनाचार्यने संस्कृतमें विशद टीकाएँ लिखी हैं। उसी परम्परामें ज्ञानमूर्ति, चारित्रविभूषण आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागरजी महाराजने गाथाओंका संस्कृत व हिन्दीमें पद्यानुवाद तथा भावार्थ लिखा है। गाथाओंके गूढ़ार्थ एवं फलितार्थ आपके व्यापक अध्ययन, मनन, चिंतन एवं अनुभवकी देन हैं। वृद्धावस्थामें भी आप अहर्निश जिनवाणीकी आराधनामें लीन रहकर अध्यात्मप्रेमियोंको अपनी रचनाओं एवं प्रवचनोंका लाभ दे रहे हैं। यह हमारे लिए परम सौभाग्यका विषय है।

दयोदय, वीरोदय, जयोदय, सुदर्शनोदय, भद्रोदय, विवेकोदय, समयसारकी तात्पर्यवृत्तिकी हिन्दी टीका तथा प्रवचनसार पर आपकी यह कृति आपकी अमूल्य देन हैं। ज्ञान एवं आत्मसाधनामें तत्पर इस साधकको जैन जगत समझे एवं समय रहते उससे लाभ उठाये, यही भावना है। जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना है कि वे इस योगीको दीर्घायु प्रदान करें जिससे वह अध्यात्मप्रेमियोंको अपनी वाणी एवं लेखनीका लाभ देता रहे।

लादूलाल जैन, एम. ए., सा. रत्न
प्रधानाध्यापक
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय
लांबा हरिसिंह

१६-६-७१

* श्री वीतरागगुरवे नमः *

प्रस्तावना

दर्शनके क्षेत्रमें विश्वको जगद्गुरु भारतकी देन बड़ी अद्भुत रही है। भारतीय मनीषियों, तत्वचिन्तकों एवं दार्शनिकोंकी दृष्टि स्थूल भौतिक जगतमें ही उलझी न रह सकी है, उन्होंने शाश्वत और चिरन्तन सत्यको समझने एवं खोजनेका अनवरत प्रयत्न किया है और अपनी सतत साधनाके परिणामस्वरूप भौतिकताके चाकचिक्यमें भ्रमित इस संसारी प्राणीको जीवन मरणके चक्रसे 'मुक्त' होनेका दिव्य संदेश दिया है। इस दिव्य आध्यात्मिक सन्देशकी आवश्यकता हर कालमें रही है, इस कलिकालमें तो इसके अतिरिक्त हमारी कोई शरण नहीं है। सुखकी कामना करने वाला प्राणी आजके इस वैज्ञानिक जगतमें परपदार्थोंसे 'कस्तूरीके मृगकी भाँति' सुख पानेके लिए आतुर है, मगर उसकी स्थिति "ज्यों ज्यों दवा की मर्ज बढ़ता ही गया" वाली हो रही है। कारण कि उसकी दृष्टि पर की ओर लगी हुई है और यह निर्विवाद सत्य है कि "पराधीन सपनेहु सुख नाहिं।" अतः इस संकटकालमें तीर्थङ्करों द्वारा प्रदर्शित और आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग ही एकमात्र अवलम्ब है।

सनातन जैन परम्परामें कलिकाल सर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्यका अद्वितीय स्थान है। उनके रचित समयसार, पंचास्तिकाय और प्रवचनसार नामक परमागमोंमें जिनवाणीका सार आजाता है। 'प्रवचनसार'में जैसा कि शीर्षकसे सुविदित है, जिन प्रवचनका सार संग्रहीत किया गया है। कुन्दकुन्दप्रणीत प्रवचनसार पर अमृतचन्द्राचार्य एवं जयसेनाचार्यकी संस्कृतमें विशद टीकाएँ प्राप्य हैं, परन्तु वे संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ सामान्य बुद्धिके अध्यात्मप्रेमी पाठकके उपयोगकी नहीं। श्री हेमराजजी पाण्डे व ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने हिन्दीमें और श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाहने गुजरातीमें इन टीकाओंके अनुवाद एवं भावार्थ अवश्य लिखे हैं परन्तु इनसे इस विषयकी शुष्कता और जटिलता कम नहीं हुई है। सम्भव है, इन रचनाओंके पीछे अपनी बात अपनों तक ही सीमित रखनेकी भावना रही हो परन्तु वर्तमानमें ऐसी सङ्कीर्णता बेमानी है। अध्यात्मप्रेमी पाठक इन्हें पढ़नेका साहस व श्रम करके भी उतना लाभ नहीं उठा पाता। वह वाग्जालमें ही इतना उलझ जाता है कि विषय पीछे छूट जाता है। अतः प्रामाणिक ज्ञानको बिना तोड़े मरोड़े जन जन तक सरल शब्दोंमें पहुँचानेकी आवश्यकताका अनुभव कर पूज्य श्री १०८ आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराजने मूल गाथाओंके भावको लेकर संस्कृत अनुष्टुप् श्लोकों, हिन्दी पद्यानुवाद एवं गद्यमें सारांशकी रचना की है, जिसका रसास्वादन जैन दर्शनकी जटिल एवं क्लिष्ट शब्दावलीसे सर्वथा अपरिचित अध्यात्मजिज्ञासु बड़ी तन्मयतासे कर सकता है।

गाथाओंके भावको आचार्यश्री ने अनुष्टुप् सदृश लघु श्लोकमें बद्ध कर 'गागरमें सागर' भरा है, जो उनकी उत्कृष्ट कवि प्रतिभाको मुखर करता है। संस्कृतसे सर्वथा अनभिज्ञ पाठकके लिए गीता छन्दमें उन्हीं भावोंको पद्यवद्ध कर प्रतिदिन नियमित रूपसे पाठ करनेके लिए सुलभ किया गया है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश इसका 'सारांश' है। संस्कृतमें साहित्यिक काव्य ग्रन्थोंकी रचना करनेवाले इस महर्पिकी तत्सम पदावलीको यहाँ ढूँढना श्रमसाध्य है— हिन्दी गद्यमें तद्भव शब्दावलीका ही प्राधान्य है। "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" इस रूपमें भी इस ग्रन्थका गद्य आदर्श, सरल, सर्वथा निर्दोष, सरस एवं इच्छित अर्थका प्रस्फुटन करनेवाला है। अतः आचार्यश्रीके कवि व्यक्तित्वके साथ उनके उत्कृष्ट गद्यकार रूपको प्रकट करनेमें भी सर्वथा सक्षम है। आचार्यश्रीने गद्यकी सूत्र शैली अपनाई है। विवेचन करनेके अनन्तर अनुच्छेदके अन्तमें सम्पूर्ण विवेचनका सार सूत्रवद्ध कर दिया है। समझानेके लिए दृष्टान्त, उदाहरण और उत्प्रेक्षाएँ व्यावहारिक जीवनसे चुनी गई हैं अतः पाठकको कहीं भी गरिष्ठताका बोझ नहीं वहन करना पड़ता —एक उदाहरण इस तथ्यकी पुष्टिमें सहायक होगा—

आत्मा और कर्मोंके मेलको उदाहरणसे स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री लिखते हैं— "संसारी आत्माके साथमें कर्मका सम्बन्ध तो पुरुषके साथ स्त्रीके सम्वन्धकी तरह है। जिसप्रकार स्त्रीके प्रभावमें पुरुष और पुरुषके प्रभावमें स्त्रीका प्रचलन रहता है, वैसे ही आत्मपरिणामोंसे कर्मोंका और कर्मोंके प्रभावसे आत्माका प्रचलन रहता है।" इस सरल उदाहरणको पढ़कर फिर कोई शंका नहीं रह जाती।

"शंका" और "उत्तर"के रूपमें लिखित इस सरस गद्यको पढ़कर अनुभूति होती है मानों आचार्यश्री सम्मुख विराज कर ही हम अल्पज्ञोंकी शंकाओंका समाधान कर रहे हैं। यह ग्रन्थकी सफलताका द्योतक है।

ग्रन्थ तीन अधिकारोंमें विभक्त है। पृष्ठ १ से ६७ तक ज्ञान प्ररूपक प्रथम अधिकार है। ६८ से १३४ पृष्ठोंमें ज्ञेयाधिकार है और १३५ से अन्त तक चारित्राधिकार है। समस्त ग्रन्थमें आचार्यश्रीने जैन दर्शनकी प्रमुख विशेषता अनेकान्तसे विवेचन किया है। आज निश्चय और व्यवहारकी मुख्यताको लेकर जो खिंचाव और तनाव चल रहा है, उसका आर्षमार्गानुसार सच्चा समाधान प्रस्तुत किया है।

प्रथम अधिकार में तात्विक शब्दावली–द्रव्य, गुण, पर्याय, शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग, मोह, सुख, सदर्शन, अदर्शन, कुदर्शन आदिकी सरल समीचीन परिभाषाएँ दी गई हैं। उनमें से कुछको यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—

* ज्ञानके द्वारा जाननेमें आवे उसे वस्तु या अर्थ कहते हैं। (पृ० ४)

* जो अपने आपको स्वीकार करते हुए भी औरसे और रूपमें होता रहे, उसे द्रव्य कहते हैं। (पृ० ४)

* द्रव्यको स्थित रखनेवाली शक्तिको गुण और उसके परिवर्तनको पर्याय कहते हैं। (पृ० ४)

* कषायोंकी तीव्रतारूप संक्लेश परिणामका नाम अशुभ और कषायोंकी मंदतारूप विशुद्ध परिणामका नाम शुभ है तथा निष्कषाय होनेका नाम शुद्ध दशा है। शुद्धदशामें वास्तविक इन्द्रियातीत सुख होता है और शुभ दशामें इन्द्रियजन्य सांसारिक सुख होता है तथा अशुभदशामें यह आत्मा एकान्त घोर दुःखका ही अनुभव किया करता है। (पृ० ४६)

"सुखका ज्ञानके साथमें अविनाभाव सम्बन्ध है। जहाँ ज्ञान होता है वहाँ सुख होता है और जहाँ ज्ञान नहीं होता वहाँ सुख भी नहीं होता।" ऐसी अन्य अनेक सूक्तियाँ सम्पूर्ण अधिकारमें बिखरी हुई हैं—

"वास्तवमें तो कोई भी पदार्थ न तो भला ही है और न बुरा ही है। हर एक पदार्थ अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार परिणमन करता है। ज्ञान उसे जानता है।" (पृ० २८)

"न तो ज्ञान ही बन्धका कारण है और न आत्माकी चेष्टा ही बन्धका कारण है। बन्धका कारण तो आत्माका रागद्वेष है।" (पृ० २९)

"सुख तो आत्माका गुण है जो ज्ञानका सहचर है।" (पृ० ४४)

"अशुभभावसे शुभभाव पर आए विना शुद्ध भाव पर नहीं पहुँचा जा सकता है।" (पृ० ५५)

गाथा ८५ में मोहके चिह्नोंकी व्याख्या करते हुए आचार्यश्रीने "करुणा भावो यतिरिएमणुएसु"का अर्थ "नर, पशुओं पर करुणाका न होना" लिखा है जो विद्वानोंको पुनर्विचारके लिए प्रेरित करनेवाला है। उपलब्ध हिन्दी संस्कृत टीकाओंमें सर्वत्र "पशु और मनुष्यों पर भी दया बुद्धिका होना मोहके सद्भावका दूसरा चिह्न है" ऐसा लिखा है। आचार्यश्रीने स्पष्ट किया है कि "करुणाका होना मोहका चिह्न है, ऐसा अर्थ तो किसी भी तरह समझमें नहीं आता है क्योंकि कुन्दकुन्द स्वामीने ही करुणाको 'धम्मो दया विशुद्धो' आदि बोधपाहुडकी गाथा सं० २५ आदिमें धर्म बताया है।" (पृ० ६०-६१)

द्वितीय ज्ञेयाधिकार में स्याद्वाद शैलीसे परवादियोंके एकान्तमतकी समीक्षा करते हुए शीघ्रातिशीघ्र ज्ञायक स्वभावरूप अपनी शुद्धात्माका अवलम्बन लेकर सदा सदाके लिए जन्म मरणके चक्रसे मुक्त होनेकी वात कही गई है। गाथा १ से ३४ तक सामान्यद्रव्यका स्वरूप, लक्षण, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका स्वरूप, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिकनय, सप्तभङ्ग, चेतना और उसके भेदोंका विशद विवेचन किया गया है। गाथा ३५ से ५६ तक द्रव्यके भेदों जीव, अजीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और कालका और अनन्तर अशुद्ध जीवका वर्णन हुआ है। गाथा ६५, ६६ में शुभोपयोग, अशुभोपयोगका स्पष्टीकरण किया गया है। फिर जीव और पुद्गलका विस्तृत विवेचन, द्रव्यकर्म और भावकर्म जैसे गूढ़ विषयोंको सरल शब्दोंमें स्पष्ट कर यह प्रतिपादित किया गया है कि सब पदार्थ ज्ञेय हैं और जीव इनका ज्ञाता है। आत्मा शाश्वत है और अन्य सब पदार्थ क्षणिक हैं। इस प्रकार पदार्थोंमें ममत्व त्याग कर अपनी आत्मामें विशुद्धता, कोमलताको प्राप्त करनेवाला जीव मिथ्यादर्शनका नाश कर सकता है। परन्तु शुद्धात्माके ध्यानके लिए दुरभिप्रायका नाश करके सम्यग्दृष्टि होने पर मुनि अवस्था धारण करना आवश्यक होता है क्योंकि सांसारिक झंझटोंमें फँसे हुए रागद्वेष युक्त जीवके ऐसा ध्यान शुद्धात्माके विषयमें कभी नहीं हो सकता है। ग्रन्थकारके इन मंतव्योंको अब आचार्यश्रीकी निम्न सरल उक्तियोंके माध्यमसे भी देखिए—

* हर एक वस्तु तात्कालिक होकर भी शाश्वत है। (पृ० ६६)

* मनुष्यता और पशुता न तो केवल जीवकी ही अवस्था है और न केवल अजीव कहलानेवाले पुद्गल द्रव्यकी ही अवस्था है। यह तो जीव और पुद्गल इन दोनोंकी संयोगी अवस्था होती है। (पृ० ६६)

* नवीनता आजानेका नाम उत्पाद है, प्राचीनता न रहनेका नाम व्यय है किन्तु ऐसा होते हुए भी तत्पन बने रहनेका नाम ध्रौव्य है। (पृ० ७१)

* आत्मा तो अपने भावकर्मका ही कर्ता है न कि द्रव्यकर्मका। (पृ० ६२)

* कोई भी जीव किसी भी तरहसे दुखी न रहे, इसप्रकारके सद्विचारका नाम ही शुभ भाव है। यह जीवके लिए पुण्यबन्धकारक है। परपीड़ाकारक विचारका नाम अशुभ भाव है। यह पापवन्धकारक है। परमात्म चिंतनमें निमग्न रहनेरूप उदासीनभाव वीतरागभाव है। यह पुण्य और पाप दोनों ही तरहके बंधसे रहित होकर आत्माको पूर्ण शांतिदायक होता है। (पृ० १२१)

* उपयोगकी एकाग्रता निश्चलताका नाम ध्यान है। (पृ० १३२)

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंको आचार्यश्रीने दाहिनी और बायीं आँख बताया है। इसप्रकार इस अधिकारमें आचार्यश्रीने भेदविज्ञानका रहस्य खुलासा किया है।

तीसरे चारित्राधिकार में बताया गया है कि यद्यपि ज्ञान आत्माका अनन्य गुण है परन्तु ज्ञानकी सार्थकता पवित्र आचरणके द्वारा होती है। आचरणके अभावमें ज्ञान पंगु है, सफलता चारित्रके ही आधीन है। अतः हर एक मनुष्यको चारित्र धारण करना चाहिए क्योंकि मनुष्यगतिमें ही चारित्र धारण किया जा सकता है सम्यग्दर्शन तो अन्य गतियोंमें भी हो जाता है। गाथाओंमें क्रमशः चारित्र धारण करनेकी रीति, साधुके कर्तव्य, आहार-विचार, मुनियोंके भेद, परिग्रह, पंच पाप, स्त्रीमुक्ति-निषेध, चारित्रकी महत्ता, अटल समता, सच्चा मुनि, वैयावृत्य, सत्संगति आदि विषय आया है जिसकी आचार्यश्रीने आर्षग्रन्थोंके आधारपर श्वेताम्बर समाजके व इतर समाजके प्रामाणिक ग्रंथोंसे उद्धरण प्रस्तुत करते हुए सरल शब्दोंमें व्याख्या प्रस्तुत की है। इस अध्ययनके बाद किसी शङ्काकी सम्भावना नहीं रहती। आचार्यश्रीके शब्दोंमें कुछ स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

* वस्त्रोंके साथ साथ संसारके सभी पदार्थोंसे निस्पृह होकर रहना और अपने मानसिक मैल (कषाय भाव)को दूर करके सर्वत्र ही समता भावको स्वीकार करना दिगम्बरत्व होता है। (पृ० १४३)

* कर्मबन्धके लिए अन्य प्राणियोंके घात रूप हिंसाकी कोई अपेक्षा न होकर पर पदार्थोंके प्रति होनेवाला इस जीवका मोह ममत्वरूप परिग्रह भाव ही बलवान है। (पृ० १५०)

* रागद्वेषके अभावका नाम धर्म है। (पृ० १५४)

* न तो किसीसे दूर भागना ही निष्परिग्रहता कही जा सकती है और न किसीको पकड़े रहना ही, क्योंकि परिग्रह तो आत्मेतर पदार्थोंमें इष्टानिष्ट कल्पनाका नाम है। (पृ० १६४)

* समुचित श्रद्धान और द्वादशांगका ज्ञान होकर भी यदि चारित्र धारण नहीं किया जावे तो मुक्ति नहीं मिल सकती है। (पृ० १७१)

* किसीको भी कोई कष्ट न हो इसप्रकारका सर्वोदयी सुन्दर विचार तो जैनधर्मका प्राण है। (पृ० १७६)

* जहाँ तक हो सके अहिंसाका व्यवहार करनेवाला और असमर्थ अवस्थामें भी अहिंसाका पक्षपाती जैन है। इसके विपरीत जो हिंसा करनेमें ही प्रवृत्त हो रहा हो वह अजैन होता है। (पृ० १७६)

उपर्युक्त समुचित सदाचारके वर्णनके अनन्तर ग्रंथकारने उपसंहाररूप संक्षेपमें चार बातोंका (संसार परिभ्रमण, संसारसे छूटना, संसारसे छूटनेके उपाय, मुक्त जीव) विवेचन कर ग्रंथ पठनका लाभ मुक्ति दर्शा कर ग्रंथकी समाप्ति की है।

इस प्रकार तीन अधिकारोंके गहन, गूढ़ विषयको अतीव सरल शब्दावलीमें आचार्यश्रीने सामान्यबुद्धिके पाठकके लिए सुलभ कर हम पर अतीव उपकार किया है। प्रत्येक श्रावक एवं त्यागीको इस सद्ग्रंथका पारायण करना चाहिए। आचार्यश्रीने कुछ गाथाओंको अतीव सरल जानकर उनका गद्यमें अनुवाद नहीं किया है, उन गाथाओंका सरल शब्दानुवाद पू० १०८ श्री विद्यासागरजी महाराजने लिखा है जिसे परिशिष्टमें जोड़ दिया गया है।

प्रस्तुत कृति 'प्रवचनसार'के अतिरिक्त आचार्यश्रीने समयसारकी तात्पर्यवृत्तिकी हिन्दी टीका, सम्यक्त्वसार शतक तथा साहित्यिक काव्य ग्रन्थोंका भी प्रणयन किया है जिनमें प्रमुख हैं—जयोदय (मूल प्रकाशित), वीरोदय, सुदर्शनोदय, दयोदय, भद्रोदय, ऋषभचरित आदि। काव्यप्रेमियोंके लिए ये सभी काव्य पठनीय हैं। आत्म साधनामें तल्लीन इन महर्षिने जिनवाणीकी सेवा कर धर्मकी प्रभावना की है। लोक सदा सदाके लिए आपका ऋणी है। इस अवस्थामें भी आप अहो-रात्र अध्ययन, अध्यापन और चिंतनमें लवलीन रहते हैं। आपके व्यक्तित्वको लखकर यही अनुभूति होती है मानों ज्ञान, विनय, धैर्य, सहिष्णुताने मूर्त रूप धारण कर लिया हो, आपका थोड़ेसे क्षणोंका सामीप्य भी परम सौभाग्यका विषय है। धन्य हैं आपके सुयोग्य शिष्य पूज्य १०८ श्री विद्यासागरजी महाराज, जिन्हें आपके सतत सान्निध्यमें ज्ञानका लाभ प्राप्त हो रहा है।

श्रीमद् १००८ जिनेन्द्रप्रभुसे यही प्रार्थना है कि वे निवृत्तिमार्गके इन पथिकोंको चिरायु करे ताकि समाजको अधिकाधिक लाभ प्राप्तिका अवकाश रहे।

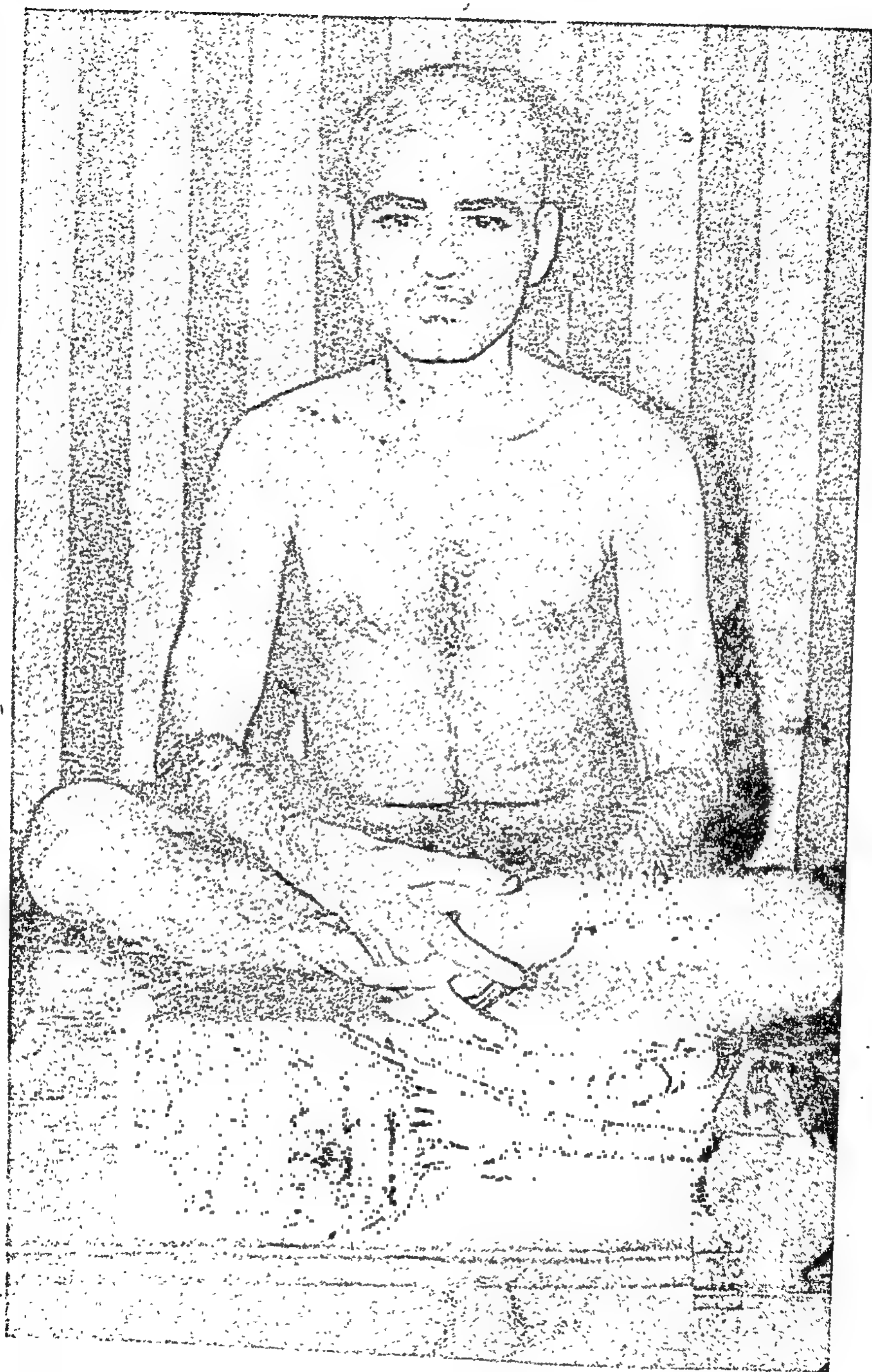
मैं आचार्य और शिष्यके इस आदर्श युगलके चरणोंमें नतमस्तक हूँ।

श्रद्धाभिभूत—
चेतनप्रकाश पाटनी
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय

जोधपुर
१५ अक्टूबर, ७१



प्रवचनसार



आचार्यश्री के सुयोग्य शिष्य, बाल ब्रह्मचारी

श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज

यह मेरी भावना है सब इसकी स्वाध्याय करें

यह "ज्ञान" प्रणीत प्रवचनसार नयनाभिराम उपवन है,
हर एक इसमें करे निवेश तो निश्चय दुःख शमन है।
मेधावीजन ! भव्य सुजीव यहाँ करते निशदिन रमण हैं,
रीति और विवेकसे चल द्रुत, करते निर्मल निज तन मन हैं ॥१॥

भाषामयी गीतावृत्तलता है हरित पूरित लहलहा,
वर–वचन–रससिक्त परिमल अति प्रवाहित है जहाँ।
नासिकाऽकर्षक हैं अनुष्टुप् सुमन उत्फुल्लित अहा,
है भ्रमरदल गुंजार करता, सुधा सेवन कर रहा ॥२॥

सरस आत्मामृत भरित 'सारांश' सर है स्थित सदा,
बड़भागी गाहकर जिसमें खोवे निज श्रम–आपदा।
इसमें तरङ्गित हैं अहो ! प्रचुर उदाहरण वीचियाँ,
सबको मुदित करती सदा हैं भव्यजनकी रीतियाँ ॥३॥

कीदृश पद कमल देखो 'ज्ञान' रविसे खिल रहे,
स्वार्थहीन मुमुक्षुमुख हैं देख उनको लस रहे।
ध्यानी सुधी विमल हंस हैं नित्य सेवा कर रहे,
यत्र तत्र भटके हुए जन निर्भीक होकर मिल रहे ॥४॥

करूँ मनन "प्रवचन" का सदा, है यही अभिलाष मेरी।
रे शीघ्र ही जिससे मिटे अबुध "विद्या" की भव फेरी ॥





ज्ञानमूर्ति चारित्रविभूषण वयोवृद्ध

आचार्यश्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज

प्रकाशित प्रमुख कृतियाँ :

सम्यक्त्वसारशतक, समयसार टीका, प्रवचनसार टीका, कर्तव्य पथ प्रदर्शन, जयोदय, वीरोदय, दयोदय, सुदर्शनोदय, भद्रोदय, विवेकोदय

श्री १०८ आचार्य श्री ज्ञानसागर दि० जैन ग्रंथमाला पुष्प ५



श्री महावीर २५०० वां निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष में [illegible] दिगम्बर भगवान महावीर २५०० वां निर्वाण महोत्सव [illegible] राजस्थान प्रदेश द्वारा महावीर कक्ष के लिये भेंट ॥

नमः श्री परमात्मने ।

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

प्रवचनसारः

ज्ञानमूर्ति चारित्रविभूषण

आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज कृत

संस्कृत अनुष्टुप्, हिन्दी पद्यानुवाद एवं

सारांश सहित



एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसणचरित्ततव वीरियायारे ॥२॥

सुरासुरमनुष्येन्द्र – वंदितं घातिघातनम् ।
प्रणमामि वर्द्धमानं धर्मतीर्थप्रवर्तकम् ॥१॥
इतरानपि तीर्थेशान् प्रणमामि तथाऽखिलान् ।
सिद्धान् विशुद्धसद्भावान् मुनीनाचारतत्परान् ॥२॥

नर सुर असुर आदि से पूजित घातिघात कर्त्ता भगवान् ।
वर्द्धमान तीर्थङ्कर हैं उनको मेरा हो नमन महान् ॥
ऐसे ही जो और तीर्थंकर होवेंगे होगये च हैं ।
केवलि सिद्ध साधु उनके चरणों में भी करबद्ध रहें ॥१॥

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं ।
वंदामि य वट्टन्ते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेदि सव्वेसिं ॥४॥

नृलोके वर्त्तमानांस्तान् सर्वानप्यर्हतः सदा ।
एकहेलं प्रणम्याथ प्रणमामि पुनः पृथक् ॥३॥
नत्वाऽर्हतस्त्रिभिर्योगैः सिद्धान् गणधरानपि ।
उपाध्यायानथो साधून् सर्वानिह पुनः पुनः ॥४॥

नमस्कार हो अरहन्तोंको सिद्धोंको गणपतियोंको ।
उपाध्याय लोगोंको भी फिर मेरा यों सब–यतियोंको ॥
विशुद्ध दर्शन बोध विधायक जिनके उत्तम आश्रमसे ।
साम्यभावको मैं पा करके पाऊं निर्वाण क्रमसे ॥२॥

सारांशः—यहाँ प्रथम वृत्तमें स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य देवने भगवान् वर्द्धमान तीर्थङ्करको नमस्कार किया है । सो इसमें विचारकी बात यह है कि—कुन्दकुन्दाचार्यके समयमें तो श्री वर्द्धमान स्वामी आठों कर्मोंसे रहित हो चुके थे, फिर भी यहाँ पर उनके लिये घातिघातकर्त्ता ही क्यों कहा गया है ? तो इसका उत्तर यह है कि—आत्माके द्वारा जीतने योग्य यद्यपि आठ कर्म हैं परन्तु उनमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इसप्रकार इन घातिया कहलानेवाले चार कर्मों पर तो प्रयत्नपूर्वक विजय प्राप्त करनी पड़ती है, बाकीके अघातिया कहलानेवाले चार कर्म तो उन पूर्वोक्त घातियाकर्मोंको दूर हटा देने पर फिर समयानुसार अनायास ही इस आत्मासे दूर हो जाया करते हैं एवं धर्मतीर्थ प्रवर्तक तथा सकलज्ञ भी घातिकर्मोंके नाश होते ही हो जाते हैं । इसी बातको ध्यानमें रखते हुए आचार्यश्री ने ऐसा लिखा है ।

तेसिं विशुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाण संपत्ती ॥५॥

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

विशुद्धदर्शनज्ञान प्रधानं तेषामाश्रमम् ।
गत्वा साम्यमवाप्नोमि निर्वाणावाप्तिरित्यतः ॥५॥
सद्दृष्टिज्ञानयुक्तेन चरित्रेणेह देहिनः ।
सम्पद्यते समं मुक्ति सुरेशनृपवैभवैः ॥६॥

उनके प्रवचनसारको यहाँ हिन्दी छन्दोंमें गाऊँ ।
अपना और भद्रलोगोंका जिसपरसे हित कर पाऊँ ॥
सम्यग्ज्ञानसहित चेतनका चरित सदा सुख भरता है ।
श्री सुरेश (देवासुर) मानवराज विभवयुत शिवपदको करता है ॥३॥

सारांशः—सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान सहित जो सम्यक्चारित्र है वह सराग और वीतरागके भेदसे दो प्रकारका होता है । वीतराग चारित्रसे तो साक्षात् निर्वाणकी प्राप्ति होती है किन्तु सराग चारित्रसे देवेन्द्रपद प्राप्त करके तदुपरान्त मनुष्यभवमें चक्रवर्ती या बलदेव वगैरह की राजविभूतिको प्राप्त करके फिर मुनि होकर मुक्ति प्राप्त करता है । एवं सरागचारित्र परम्परा मुक्तिका कारण माना गया है; यही यहाँ बतलाया है । मूलग्रंथकी छठी गाथाका शुद्ध पाठ 'संपज्जदि णिव्वाणं देवेसुरमणुयरायविहवेहिं' ऐसा है क्योंकि सम्यक्दृष्टि जीव मरकर असुरोंमें कभी भी उत्पन्न नहीं होता है । यह बात दूसरी है कि कोई सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र धारण करके भी किसी असुरकुमारकी विभूतिको देखकर उसका सम्यक्त्व नष्ट हो जानेसे लालायित होकर निदान बंध करले तो वह मरकर धरणीन्द्र जैसी अवस्था भी प्राप्त कर लेता है । इस अपेक्षासे 'देवासुरमणुयरायविहवेहिं' ऐसा पाठ भी हो सकता है ।

आगें चारित्रके स्वरूपको प्रगट कर बतलाते हैं :—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

चरणं शमरूपेण चारित्रं धर्म नाम भाक् ।
आत्मनः परिणामो हि मोहक्षोभातिगः शमः ॥७॥
येन रूपेण पर्येति तदाऽऽत्मा तन्मयः स्वयम् ।
भवतीति पुनः धर्मनाम्नाऽऽत्मापि निगद्यताम् ॥८॥

जो शमभावरूप होता है वही धर्म है कहलाता ।
मोहक्षोभविहीन आत्मपरिणाम जैनमत यों गाता ॥
धर्मरूप परिणत आत्मा भी धर्म कहा जा सकता है ।
क्योंकि भावसे भाववान तन्मयता तत्क्षण रखता है ॥४॥

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥
णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥१०॥

यदा परिणमत्यात्मा शुभेन शुभ इष्यते ।
अशुभेनाऽशुभः शुद्धः शुद्धेन परिणामतः ॥९॥
परिणाममृतेनार्थः परिणामश्च तं विना ।
यतोऽर्थः सन् द्रव्यगुण पर्ययात्मा प्रकीर्त्यते ॥१०॥

यहाँ शुभाशुभशुद्धरूपसे तीन तरह परिणमन करे ।
है परिणमन स्वभाव चेतन जो कि तदा तन्नाम धरे ॥
वस्तु विना परिणाम और परिणाम विना न वस्तु कोई ।
क्योंकि द्रव्य गुण पर्ययवाली वस्तु वही जो हो सोई ॥५॥

सारांशः—ज्ञानके द्वारा जाननेमें आवे उसे वस्तु या अर्थ कहते हैं, वह द्रव्य गुण और पर्यायात्मक सत्ताको स्वीकार किये हुए सद्रूप होता है। जो अपने आपको स्वीकार करते हुए भी औरसे और रूपमें होता रहे उसे द्रव्य कहते हैं। उस द्रव्यको स्थित रखनेवाली शक्तिको गुण और उसके परिवर्तनको पर्याय कहते हैं। ये तीनों बातें जहाँ पर हों

वह वस्तु ज्ञानका विषय हुआ करती है। अब यहाँ पर एक बात विचारणीय है, वह यह है कि—

गुण और पर्याय ये दोनों बातें जिसमें हों वह द्रव्य होता है। उसीको वस्तु कहते हैं और वही ज्ञानका विषय होता है, ऐसा हरएक विद्वान् मानता है परन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों बातें जिसमें हों वह वस्तु ज्ञानका विषय होती है। मानलो हमारे सम्मुख एक चीज आई जो हमारे अनुभवमें इसप्रकार आती है कि—

यह एक खट्टे रसवाला आम है। इसमें आम तो विकारी द्रव्य है। जिसका रस गुण है और खट्टापन उस रस गुणकी पर्याय है। सो वहाँ पर वह उस आमका रसगुण खट्टेपन मात्र ही नहीं, किन्तु उससे अधिक दायरेवाला है। वहाँ खट्टापन मिटकर मीठापन आनेवाला है। इसीप्रकार आम भी रसगुण मात्र ही न होकर वह उससे भिन्न कहलानेवाले रूप, स्पर्श, गन्धादि अनेक गुणोंका पुञ्ज है। जिससे रसगुण कथञ्चित् भिन्न है, जो कि रसना इन्द्रियके द्वारा पहिचाना जाता है। एवं द्रव्य, गुण पर्याय ये तीनों हमारी दृष्टिमें भिन्न भिन्न होकर भी ऐसे भिन्न नहीं हैं कि उनको हम देशापेक्षया भी भिन्न कर सकें। जिस प्रदेश अर्थात् वस्तुमें खट्टेपनको लिए हुए हमें रसका अनुभव होता है, वहीं पर उसके साथ साथ इतर स्पर्शादि गुणोंके पुञ्जात्मक आमका भी अनुभव हो रहा है। वस्तु परिणमनशील होती है। जो अपने परिणमन के साथमें तादात्म्य, अभिन्न भावको लिए हुए हुआ करती है। वस्तुमें हरसमय कोई न कोई परिणमन अवश्य होता ही है। वस्तुको छोड़कर परिणमन नहीं होता है। इसीप्रकार परिणमनके बिना वस्तु भी स्थित नहीं रह सकती है।

आत्मा भी वस्तु है अतः परिणमनशील है। जिसका परिणमन शुभ, अशुभ और शुद्धके भेदसे तीन तरहका होता है और जब जैसा परिणमन होता है उस समय वह आत्मा ही स्वयं वैसा बन जाता है।

शुभ परिणमनके समय शुभ तथा अशुभके समय अशुभ और शुद्धके समय यह आत्मा ही शुद्ध हो जाता है।

अब आत्माके किस परिणमनका क्या फल होता है, यही बताते हैं :—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥१२॥

शुद्धोपयोगवान् मुक्तिं धर्मात्मा प्रतिपद्यते ।
शुभोपयोगवान् स्वर्ग-सुखं स इति शासनम् ॥११॥
अशुभोदयतः किन्तु कुनरो नारकः पशुः ।
भूत्वा भ्रमति संसार-वने दुःखीभवन् भ्रशम् ॥१२॥

शुद्धोपयोग युत होता है पाता है निर्वाण वही।
जब होता है शुभोपयोगी तो पाता है स्वर्ग सही ॥
अशुभोदयसे तो कुमर्त्य तिर्यञ्च नारकी हो करके।
घोर दुःख पाता अनन्त संसारितया यह मर करके ॥६॥

सारांशः—यहाँ पर पाठक देख रहे हैं कि शुद्ध और शुभके साथमें तो उपयोग शब्द है किन्तु अशुभके साथ उपयोग शब्द न होकर उदय शब्द दिया गया है। ऐसा क्यों? इसका मतलब यह है कि शुद्ध या शुभ उपयोगकी अवस्थामें आत्मा अपने आत्मत्वको स्वीकार किये हुए रहता है किन्तु अशुभकी दशामें आत्मभावसे दूर हटकर उत्पथको अपनाये हुए रहा करता है। शुद्ध या शुभोपयोगी जीव धर्मात्मा होता है और अशुभोपयोगी जीव अधर्मी, पापी, पाखण्डी होता है। इसीलिये वह नरकादिक दुःखोंका भाजन होता है।

शङ्काः—आपने शुभोपयोगी जीवको धर्मात्मा बताया सो हमारे तो समझमें नहीं आया क्योंकि धर्म तो शुद्धोपयोगका नाम है, जिससे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। एवं वह जिसके हो उसे धर्मात्मा कहना ठीक है

जैसा कि यहीं पर नं० ११ की गाथामें—'यदि आत्मा शुद्धसम्प्रयोगयुतस्तदा तदा धर्मेण परिणतो भवति यतो निर्वाणसुखं प्राप्नोति' लिखा हुआ है। तथा और भी जैन ग्रंथोंमें हमने तो यही सुना है कि जो जीवको मुक्ति प्राप्त करा देता है, वही धर्म है जैसा कि श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—'देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्। संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥' इस श्लोकसे भी स्पष्ट हो रहा है। शुभोपयोग तो अशुभोपयोगकी तरहसे ही संसारका कारण है। यह बात दूसरी है कि—अशुभोपयोगसे नरक निगोदमें जाता है और शुभोपयोगसे स्वर्गमें जाता है।

उत्तरः—यह तो तुम्हारा कहना ठीक है कि जीवको मुक्ति प्राप्त करानेवाला धर्म है किन्तु संसारमें ही घुमानेवाला अधर्म होता है। फिर भी जैनाचार्योंने उस धर्मको सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपसे तीन भागोंमें विभक्त कर बताया है जैसा कि इसी ग्रंथकी छठी गाथामें भी आया है। उसमें भी प्रधानता सम्यक्चारित्रकी है क्योंकि सफलता चारित्रके ही आधीन है। सरल शब्दोंमें, समता भावका नाम चारित्र है जो कि मोह और क्षोभसे या अहंकार और ममकारसे रहित आत्माका परिणाम होता है। जैसा कि यहीं सातवीं गाथामें बताया जा चुका है। वह चारित्र दो प्रकारका होता है। एक तो मोह और क्षोभसे सर्वथा रहित होता है अतः संसाराभावरूप अपने कार्यको करनेमें पूर्ण समर्थ होता है उसे शुद्धोपयोग या वीतराग चारित्र कहते हैं।

दूसरा वह होता है—जहाँ मोहका तो अभाव होता है परन्तु क्षोभ (राग द्वेष) का सर्वथा अभाव न होकर आंशिक सद्भाव बना रहता है जिससे वह अपनी शक्तिका विकास न कर सकनेके कारण तत्काल अपने कार्यको सम्पन्न नहीं कर सकता है। ऐसे चारित्रको ही सरागचारित्र या शुभोपयोग कहते हैं। इस शुभोपयोग वाला जीव लौकान्तिक या अनुत्तरिक देव तथा बलभद्र तीर्थंकरादि पद पाता हुआ

अपनी आत्मामें समाश्वासन प्राप्त करता है। जो कि शुभोपयोग एक अशक्त धर्मात्माके लिए शक्ति सम्पादनका हेतु होनेसे ठीक ही है।

शङ्काः—तो फिर टीकाकार अमृतचंद्राचार्यने उसे (शुभोपयोग) हेय क्यों लिखा ?

उत्तरः—उन्होंने शुद्धोपयोगको दृष्टिमें रखते हुए शुभोपयोगको हेय बताया है, सो ठीक ही है। शुद्धोपयोगकी अपेक्षासे तो शुभोपयोग हलका ही है। जैसे मानलो, दो मनुष्य एक स्थान पर जानेके लिये रवाना हुए। इनमेंसे जो दृढाध्यवसायी है वह बेरोकटोक सीधा शीघ्रता से चला जारहा है। दूसरा भी उसी सड़क पर धीरे धीरे बीचमें विश्राम लेते हुए चल रहा है। ये दोनों ही एक ही पथके पथिक हैं परन्तु चलनेमें उत्तमता पहिले मनुष्यकी है। इसीप्रकार शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी इन दोनोंका सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप मार्ग एक ही है। दोनों ही मुक्तिको लक्ष्यमें लेकर चलते हैं अतः दोनों ही धर्मानुयायी हैं। भेद इतना ही है कि वह (शुद्धो-पयोगी) खेद रहित है और यह (शुभोपयोगी) खिन्नताको लिए हुए है। जैसा कि टीकाकार श्री अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति। यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्य-नीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्त-घृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति।

आचार्य महाराज कहते हैं कि मानलो दो मनुष्य हैं जिनके रूक्ष हवा लगनेसे शरीरमें दर्द होगया है। दोनों ठीक होना चाहते हैं। इनमें एक व्यायामशील है जो दण्ड बैठकादि करके पसीना निकल जानेसे अनायास ही स्वस्थ होजाता है। दूसरा अपने शरीरके दर्दको मिटानेके लिए अग्नि पर उष्ण किये हुए तेल या घृतकी मालिश करता है जिससे उसका दर्द तो धीरे २ कम होजाता है परन्तु इसके जो गरम

गरम तेल लगाया जारहा है उसकी कुछ पीड़ा भी होरही है। इसीप्रकार शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी ये दोनों ही मोक्षमार्गी हैं। दोनों ही धर्मात्मा हैं परन्तु इनमेंसे शुद्धोपयोगी जीव तो अपनी पूर्ण शक्तिसे धर्ममें लगा हुआ रहता है अतः साक्षात् मोक्षको प्राप्त कर लेता है, और शुभोपयोगी जीव भी धर्मरूप अवश्य परिणत होरहा है फिर भी वह अपनी शक्ति दबी हुई होनेसे अपना अभीष्ट कार्य पूरा न कर सकनेके कारण सुधाररूप चेष्टाके साथ साथ कुछ बिगाड़रूप चेष्टाको भी लिये हुए होता है अतः स्वर्गसुख प्राप्त करता है। मतलब यह है कि शुभोपयोगी जीव अपूर्ण धर्मात्मा होता है।

अशुभोपयोगी जीव तो सर्वथा ही धर्मशून्य अधर्मी पापी होता है जिससे वह कुयोनियोंमें परिभ्रमण करता रहता है। जैसा कि श्रीअमृतचंद्रजी बारहवीं गाथाके अर्थमें लिख रहे हैं—'यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणतिमालम्बते तदा कुमनुष्यतिर्यङ्नारकभवभ्रमणरूपदुःखसहस्रबन्धमनुभवति'। यह सब लिखनेका तात्पर्य यह है कि अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है। इससे शुभोपयोग अच्छा है क्योंकि इसके हो जाने पर धर्म की अभिरुचि अवश्य होती है परन्तु उस धर्मकी पूर्णता शुद्धोपयोगके बिना नहीं हो सकती है। वास्तविक अतीन्द्रिय स्वाभाविक आत्मीय सुखकी प्राप्ति शुद्धोपयोग वालेको ही होती है, यही अब बताते हैं—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥
सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

आत्मोत्थं विषयातीत – मनन्तमनुपद्रवम्।
अत्युन्नतमनुपमं सुखं शुद्धोपयोगिनाम् ॥१३॥
ज्ञाततत्वार्थसूत्रस्य संयतस्य विरागिणः।
समदुःखसुखस्यैष उपयोगः प्रशुद्ध्यति ॥१४॥

शुद्धोपयोगसे ही चेतन नित्य सुखी कहलाता है।
अनुपम विषयातीत आत्मगत वह अनन्तसुख पाता है ॥
तत्त्वार्थश्रद्धानी होकर संयमतपयुत जो योगी।
समसुखदुःखतया विराग हो वह शुद्धोपयोग भोगी ॥७॥

सारांशः—यहाँ आचार्यश्रीने शुद्धोपयोगवालेको ही वास्तविक सुख होता है ऐसा कहते हुए यह बतलाया है कि शुद्धोपयोग उसी पुरुषके होता है जो सर्वप्रथम यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान करके अपने उपयोगको अशुभसे हटाकर शुभरूप बना लेता है। बाह्य संपूर्ण पदार्थोंका त्याग करते हुए संयम धारण करके साधु दशाको स्वीकार कर लेता है। फिर अपने अंतरंगमें भी स्फुरायमान होने वाले रागद्वेष भाव पर भी विजय प्राप्त करता हुआ पूर्ण विरागता पर आजाता है। उसकी दृष्टिमें न तो कोई शत्रु ही होता है और न कोई मित्र ही होता है। वह सुख और दुःखको बिल्कुल समान समझता है। आत्मामें उत्पन्न होने वाले काम, क्रोध, मद, मात्सर्य और ईर्षा आदि विकारी भावोंका मूलोच्छेद करके जबतक अपने आपको शुद्ध न बना लिया जावे तबतक वास्तविक पूर्ण शान्ति नहीं मिल सकती है। और इन सब विकारोंका मूलोच्छेद इस दुनियाँदारोकी झंझटवाले कौटुम्बिक जीवनमें फंसे रह कर कभी नहीं हो सकता किन्तु इससे मुक्त होकर निर्द्वन्द दशा अपनानेसे ही हो सकता है।

शङ्काः—क्या आत्मा वास्तवमें अशुद्ध है ?

उत्तरः—वास्तव शब्दका मतलब होता है केवलपन। केवल (अकेले) पनकी अवस्थामें विकार नहीं हो सकता है। परन्तु इस आत्माके साथमें अनादिकालसे कर्मपुद्गल परमाणुओंका मेल होरहा है अतः इस संसारी जीवमें विकार है।

शङ्काः—आत्माके साथ कर्मोंका मेल है तो भी क्या हुआ ? कर्मोंका एक भी परमाणु आत्मरूप और आत्माका एक भी प्रदेश कर्मपरमाणुरूप नहीं हुआ है, फिर आत्माका क्या बिगड़ गया। आत्माके प्रदेश भिन्न हैं और कर्मपरमाणु भिन्न हैं। जैसे कुछ गेहूं हैं। इनमें कुछ कङ्कर मिला

देनेसे ये कङ्करदार होगये, फिर भी गेहूं, गेहूं ही हैं और कङ्कर, कङ्कर ही हैं। हम जब चाहे गेहूंसे कङ्करोंको निकालकर बाहर कर सकते हैं।

उत्तरः—कर्मरूप पुद्गल परमाणुओंके साथ आत्माका सम्बन्ध होकर भी कोई भी कर्मपरमाणु आत्मरूप और कोई सा भी आत्माका प्रदेश कर्मपरमाणु रूपमें नहीं हो गया है। यह बात तो ठीक है किन्तु आत्मा और कर्मोंका गेहूँ और कङ्करोंके समान मेल नहीं है क्योंकि आत्माके प्रदेश गेहूँकी तरह भिन्न नहीं होते हैं। आत्मा तो असंख्यात प्रदेशोंका एक अखण्ड द्रव्य है। वह किसी तूम्बीके ऊपर मिट्टीकी तरह आत्माके ऊपर कर्मपुञ्जसे लिपट रहा हो, ऐसा नहीं है। सरल रीतिसे समझनेके लिये संसारी आत्माके साथमें कर्मका सम्बन्ध तो पुरुषके साथ स्त्रीके सम्बन्धकी तरह है। जिसप्रकार स्त्रीके प्रभावमें पुरुष और पुरुषके प्रभावमें स्त्रीका प्रचलन रहता है वैसे ही आत्मपरिणामोंसे कर्मोंका और कर्मोंके प्रभावसे आत्माका प्रचलन रहता है। मतलब यह है कि जैसे अग्निके सम्पर्कसे मोम अपने घनत्वको त्यागकर पिघल जाया करता है वैसे ही स्त्री पुत्रादि बाह्य पदार्थोंके सम्पर्कमें मोहनीयादि कर्मोंके उदयको पाकर आत्मा भी रागद्वेषादि विकारोंके रूपमें परिणत हो जाया करता है अतः आत्माको उन विकारोंसे रहित शुद्ध बनाना चाहे तो मोहनीयादि कर्मों पर विजय पानेके लिए स्त्री पुत्रादि रूप बाह्य पदार्थोंसे अवश्य ही दूर हटना होगा जैसे कि मोमको घनत्व पर लानेके लिये अग्निपरसे दूर करना पड़ता है।

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥१५॥
तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

विशुद्ध्या शुद्धतामाप्तो हत्वा घातिचतुष्टयम्।
ज्ञेयभूतसमस्तार्थ – पारमाशु समेति सः ॥१५॥
तथा लब्धस्वभावस्सन् पूज्यते सज्जनैरितः।
स्वयम्भू भगवान् सर्व–विदादि शुभनामभिः ॥१६॥

निज विशुद्ध उपयोगद्वारा घातिकर्म जो हनता है।
ज्ञेयभूत सम्पूर्ण वस्तुके पारङ्गत वह बनता है॥
यों लब्धस्वभाव होनेसे स्वयम्भू च सर्वज्ञ भया।
सर्वलोकपतियोंसे पूजित होता है परमात्मतया ॥८॥

सारांशः—जब यह जीव अशुभसे शुभोपयोग पर आता है तब गुरुमुखसे तत्वोंका स्वरूप सुनकर ठीक ठीक श्रद्धान करता है। फिर शम और दमके द्वारा विशुद्धसे विशुद्धतरके रूपमें परिणत होनेवाले अपने परिणामोंको प्राप्त करता है और अपने अन्तरङ्गकी क्षुब्धताको भी जीतकर चित्तकी स्थिरतासे पूर्ण वीतराग होता हुआ अपने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायको भी दूर हटाकर साक्षात् सर्वज्ञ हो जाता है। एवं संसारी जीवोंके लिये परमाराध्य बन जाता है। जिसे परमात्मा, भगवान्, स्वयम्भू, परमेष्ठी और अरहन्तादि नामोंसे पुकारते हुए स्मरण किया जाता है। इसप्रकार वह संसारमुक्त हो जानेके बादमें, फिर संसारी कभी भी नहीं होता है, यही बताते हैं—

भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥१७॥
उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥१८॥

यत्र नाशातिगाजाति नाशो जन्मविवर्जितः।
तथापि विलयोत्पत्ति स्थितितादात्म्य वृत्तिता ॥१७॥
नाशः केनापि रूपेणो – त्पत्तिरपि प्रतिक्षणम्।
सद्भावश्च सदैवास्ति यतः सर्वस्य वस्तुनः ॥१८॥

भङ्गहीन-उत्पाद और उत्पादहीन हो नाश जहाँ।
किन्तूत्पत्ति विनाश स्थिति समवाय सहित सद्भाव वहाँ॥
पहिली पर्यय विनष्ट होकर उत्तर पर्यय होती है।
सब चीजोंमें किन्तु चीज सद्भूतपनेको जोती है ॥९॥

सारांशः—जिस शुद्ध अवस्थाकी प्राप्ति हुई है उसका अब कभी भी अभाव नहीं होगा और जिस अशुद्ध दशाका अभाव कर दिया गया

है उसका फिर कभी सद्भाव नहीं होगा। ऐसा होते हुये भी इस परम विशुद्ध आत्मामें—द्रव्यका असाधारण लक्षण जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्तता है उसका अभाव नहीं होता है। क्योंकि ऐसा होने पर तो आत्माका अस्तित्व ही नहीं रहता है अतः ऐसा कभी नहीं हो सकता है। प्रत्युत हरएक द्रव्य अपनी पूर्व पर्यायका उल्लंघन करके तदुत्तर पर्यायके रूपमें परिणत होता रहता है। यह परिणमन दो प्रकारका होता है। एक विलक्षणतासे और दूसरा स्वलक्षणतासे। जैसे आम हरेसे पीला होजाया करता है, यह विलक्षण परिणमन हुआ। एवं कोई भी चीज वैसीकी वैसी होकर भी हमें नईसे पुरानी प्रतीत होने लगती है यह स्वलक्षण परिणमन हुआ।

सूर्यका प्रतिबिम्बं जिसे हम लोग नित्य देखा करते हैं बहुत पुराना है फिर भी हमको वैसा ही प्रतीत होता है। किन्तु उसमें अपने आपमें परिणमन अवश्य होता है। स्पष्ट रूपमें जाड़ेके दिनोंमें उसके घाममें मंदपना और गरमीके दिनोंमें उसमें तेजी दीख पड़ती है। निरन्तर उसमेंसे किरणें प्रगट होती रहती हैं। फिर भी सूर्यबिम्ब सदासे ऐसा ही है जैसा कि आज दीख रहा है और आगे भी ऐसा ही रहेगा। इसीप्रकार शुद्धात्मा भी अब शुद्ध ही रहेगा। उसमें उसके अगुरुलघु गुणकी अपेक्षासे निरन्तर परिवर्तन होते हुए भी वह किसी दूसरे रूपमें कभी भी नहीं बदलता है। जैसे कि पहिले अशुद्ध दशामें नरसे नारकी और नारकीसे पशु तथा देव वगैरह होजाया करता था। ऐसे इस घातिकर्महर्त्ता भगवान्‌का जो लोग स्मरण करते हैं उनके भी दुःख दूर हो जाया करते हैं, यही वताते हैं—

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो।
जादो अदिंदिओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि॥१९॥
तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं।
ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति॥२०॥

यो घातिकर्मणां हन्ता युक्तोऽतीन्द्रियसम्पदा।
अनन्तदर्शनज्ञान – वीर्यशर्मसमन्वितः ॥१९॥

अमरासुरनाथैस्तै – रिष्टं श्रीपरमेष्ठिनम् ।
अनुध्यायन्ति ये नूनं तेषां दुःखक्षयं भवेत् ॥२०॥

घातिघातकर अतुलवीर्य होनेसे अधिक तेजवाले ।
अक्षातीत बोध सुख पाते हुए आपको सम्भाले ॥
अमरासुर वर भी जिनके चरणोंमें मस्तक घिसते हैं ।
उस परमार्थभूतको माने उसके दुःख विनशते हैं ॥१०॥

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२१॥
परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया ।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२२॥

नचेन्द्रियाणां व्यापारः कथञ्चिदपि विद्यते ।
कुतः सम्भविनी तस्य ग्रासाहारादि कल्पना ॥२१॥
यतो न क्रमतो ज्ञान परिणामो महीशितुः ।
किन्तु सर्वपदार्थानां युगपत् समनुग्रहः ॥२२॥

नहीं केवलज्ञानवानके सुख दुख शरीरगत होते ।
क्योंकि इन्द्रियातीत बोधसे सबको एकसाथ जोते॥
मतिज्ञानपूर्वक क्रमार्जित नहीं काम उनका होता।
फिर क्यों खाने पीने जैसी बातोंका हो समझौता ॥११॥

सारांशः—कुछ लोगोंका यह प्रश्न हो सकता है कि वीतराग सर्वज्ञ होजाने पर जबतक यह आत्मा शरीरमें विद्यमान रहता है तबतक तो छद्मस्थकी तरह वह भी खाना पीना करता ही होगा ? इसी प्रश्नका यहाँ उत्तर दिया गया है । जब भगवान् सर्वज्ञ होगये, सब बातों को युगपत् जानने लगे और किसी भी बातकी चाह नहीं रही तब फिर उन्हें खानेकी क्या आवश्यकता है ? खानेका मतलब तो यह है कि भोजनस्वाद जिह्वाके द्वारा लिया जावे ।

शङ्काः—श्री अरहन्त भगवान् स्वाद लेनेके लिये नहीं किन्तु देह-स्थितिके लिए भोजन करते हैं ।

उत्तरः—क्या भगवान शरीरको रखना चाहते हैं ? नहीं, क्योंकि उन्हें अब शरीरसे कोई भी प्रयोजन शेष नहीं रहा है। उनका शरीर तो आयुकर्मके आधार पर स्थित है। वह न तो नष्ट ही किया जासकता है और न उसकी रक्षा ही की जासकती है। वह तो निश्चित समय पर अपने आप ही आयुकर्मके अभावसे छूट जावेगा।

शङ्काः—वेदनीय कर्मके उदयका भी कुछ कार्य होना चाहिये ?

उत्तरः—सिंहासन छत्र चामरादिकका होना वेदनीय कर्मके उदयसे ही होता है। भोजन करना तो मोहनीय कर्मके उदय और ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मके क्षयोपशमसे हुआ करता है। जिनकी सत्ता भगवान् अर्हन्तके सर्वथा नहीं है। वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यके धारक हो चुके हैं। उनके केवलज्ञानमें सब पदार्थ एक साथ प्रतिभासित होते रहते हैं। ऐसा ही कहते हैं—

णत्थि परोक्खं किंचिवि सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥२३॥
आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥२४॥

सर्वाक्षगुणयुक्तस्य समन्ताज्ज्ञानशालिनः।
न परोक्षमस्ति किञ्चि-दक्षातीत महस्विनः ॥२३॥
ज्ञानप्रमाणमेवात्मा ज्ञानं ज्ञेयसमर्थितम्।
लोकोऽलोकोऽप्यहो ज्ञेयो ज्ञानं सर्वगतं ततः ॥२४॥

नहीं जानने लायक जिनके रहा जरा भी तो बाकी।
समुपलब्ध हो चुकी सदाके लिए अतीन्द्रिय विद्याकी॥
ज्ञानमात्र वस्तुतया आत्मा ज्ञान ज्ञेय मित होता है।
ज्ञेय अलोक लोक सब ऐसे सर्वज्ञपनको ढोता है ॥१२॥

णाणपम्माणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अधिगो वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२५॥

हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अधिगो वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२६अ॥
सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा ।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥२६ब॥

आत्माहीनो यदि ज्ञाना—त्तज्ज्ञानं चेतनं कथम् ।
अधिकश्चेद्विना ज्ञानं ज्ञातात्मा स कुतो भवेत् ॥२५॥
आत्मा ज्ञानप्रमाणं न यस्यकस्यापि सम्मते ।
हीनोवास्त्वधिकोवास्तु सञ्ज्ञानान्नियमेन सः ॥२६अ॥
सर्वंगतो जिनाधीशः सर्वेऽर्थास्तद्गताः पुनः ।
ज्ञाता यतोऽखिलार्थानामर्हंस्तद्विषयास्तुते ॥२६ब॥

ज्ञान अधिक यदि हो आत्मासे तो वह ज्ञान अचेतन हो ।
यदि हो हीन हन्त वह आत्मा ज्ञान बिना ज्ञाता न कहो ॥
जगकी जितनी चीज ज्ञानका विषय सभी हैं यों करके ।
ज्ञानी जिनसर्वंग सब चीजें सदा आत्मगत जिनवरके ॥१३॥

सारांशः—आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण एवं ज्ञान और आत्मामें तादात्म्य है । ज्ञान आत्माको छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं रहता है और ज्ञानसे शून्य आत्माका एक भी प्रदेश कभी नहीं होता है । भगवान् आत्माका ज्ञान सम्पूर्ण संसारके सभी पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानता है । कोई भी पदार्थ उनके ज्ञानसे बाहर नहीं है । वह सम्पूर्ण लोकाकाशके पदार्थोंकी तरह अलोकाकाशको भी जानता है, अतः विषय विषयीके रूपमें वह सर्वगत है । ज्ञान आत्मारूप है किन्तु आत्माके ज्ञानरूप होते हुए भी उसमें और भी गुण पाये जाते हैं, यही बताते हैं—

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं ।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२७॥
णाणी णाण सहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवाण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

ज्ञानन्तु प्रभवेदात्मा दर्शनादिमयोऽपि सः ।
इत्येवंरूपतो ज्ञाना–दात्माऽधिक इहेष्यते ॥२७॥
रूपाणीक्षणवत्सर्वा नात्मार्थान् ज्ञातुमर्हति ।
अन्योऽन्यमप्रवेशेऽपि यथोक्तमधिकारतः ॥२८॥

चेतन बिना न बोध कहीं भी चेतन बोधरूप होता ।
चारित्रादिरूप भी ऐसे धर्म धर्मिका समझौता ॥
ज्ञानी ज्ञानात्मक होता है ज्ञेयात्मक पदार्थ सारे ।
एक दूसरेमें न समावें दृष्टि यथा रूप निहारे ॥१४॥

सारांश—एक गुणीमें अनेक गुण होते हैं । जैसे गुलाबके फूलमें सुगन्ध, कोमलता, रेचकता और सुन्दरता आदि अनेक गुण होते हैं । वह गुलाबका फूल सुगन्ध मात्र ही नहीं होता है । वैसे ही आत्मा ज्ञानमय अवश्य है परन्तु ज्ञानमात्र ही आत्मा हो, ऐसी बात नहीं है । उसमें ज्ञानके साथ साथ सम्यक्त्व, दर्शन, अगुरुलघुत्व, अमूर्तत्व वगैरह और भी अनेक गुण हैं । ज्ञान आत्माके हरएक प्रदेशमें पाया जाता है और उसे छोड़ कर वह ज्ञान अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता है । ज्ञान आत्माका असाधारण गुण है । इसीसे यह आत्मा हरएक पदार्थको जानता है । अन्य पदार्थोंको जानते हुए भी आत्मा या आत्माका ज्ञान उन अन्य पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं होजाता है । पदार्थ अपने आपके प्रदेशोंमें स्थित रहते हैं और आत्मा अपने आपके प्रदेशोंमें स्थित रहता है । जैसे नेत्र अपनी जगह पर होता हुआ ही अन्य पदार्थोंमें पाये जाने वाले रूपको देखा करता है ।

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं ॥२९॥
रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए ।
अभिभूय तंपि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु ॥३०॥

समाक्रम्याप्यनाक्रम्य ज्ञानी ज्ञेयेसु वर्त्तते ।
यन्नियताकारत्वेन वस्तु गृह्णाति वस्तुतः ॥२९॥

यथा नीलमणिर्दुग्ध भाण्डे क्षिप्तः स्वदीप्तितः ।
स समस्तमहोदुग्ध-मभिव्याप्य प्रवर्तते ॥३०॥

ज्ञान काचकी ज्यों निर्मलतासे सब जग को गहता है ।
ज्ञेयोंमें न समा करके भी तदाकार हो रहता है ॥
दुग्धभाण्डमें नीलमको यदि डाल दिया वह निज भा से ।
सभी दूधको नीला करदे त्यों जगको ज्ञान प्रकासे ॥१५॥

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥३१॥
गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं ।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥३२॥

नावतरन्ति चेदर्था बोधे किन्नाम बोधनम् ।
अथ बोधस्थिताः किन्न ते तत्रावतरन्ति चेत् ॥३१॥
वाढमर्हन्नशेषांस्तान् जानन् पश्यन्नपि स्फुटं ।
नादत्तेन जहात्येव न मनाग् विचलत्यहो ॥३२॥

यदि कहो कि न तदाकारतया भी बोधमें वस्तु वसे ।
तो फिर कैसा उस पदार्थका ज्ञान हुआ यह तर्क लसे ॥
हाँ आदानोज्झन विहीन होकर निरीह जिन बोध रहे ।
सहजभावसे मणिके प्रकाशकी ज्यों वस्तु विशोध लहे ॥१६॥

सारांश—ज्ञान जब पदार्थोंको जानता है तब वह उन्हें उनके रूपमें ही जानता है, यही ज्ञानका पदार्थाकार होना है । ऐसा नहीं है कि वह उन्हें ग्रहण करता हो और छोड़ता हो या उनरूप स्वयं भी बन जाता हो । जैसे दर्पणके सम्मुख जब पदार्थ आते हैं तब उनका प्रतिबिम्ब उस दर्पणमें पड़ता है फिर भी दर्पण उनरूप नहीं होता है । यदि ऐसा न माना जावे तो वर्फके प्रतिविम्वसे काच ठंडा और अग्निके प्रतिबिम्बसे गर्म हो जाना चाहिए परन्तु ऐसा कभी होता नहीं है किन्तु प्रतिबिम्वके रूपमें वे सभी पदार्थ दर्पणके अन्दर आया जाया करते हैं, यही ज्ञानकी दशा है । दूसरा उदाहरण—

नील मणिको यदि दूधके बरतनमें डाल दिया जावे तो उस नीलमणिकी कान्तिसे सारा दूध नीला दीखने लगता है। नीलमणि अपने रूपमें अपने स्थान पर ही रहता है और दूध बरतनमें रहता है तो भी उस नीलमणिकी नीली कान्ति सारे दूधको नीला बना देती है। इसीप्रकार ज्ञान भी हर पदार्थको ज्ञेयके रूपमें आक्रान्त करके रहता है। जितना ज्ञान है वह सबका सब आत्मा ही है। सर्वज्ञ भगवान्को सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात् परिपूर्ण ज्ञान होता है अतः उनकी आत्मा भी पूर्ण और उनके साक्षात् है इसीलिये वे केवली कहलाते हैं। उन्हींके आदेश और उपदेशानुसार अपने विचारको जो स्थिर कर लेता है वह भी वहिरात्मपन (मिथ्याज्ञान)को छोड़कर ज्ञानवान् अर्थात् अन्तरात्मा बन जाता है। एवं सब बाह्य बातोंका परित्याग करके जो केवल अपनी शुद्धात्माके ही विचारमें निमग्न रहता है वह श्रुतकेवली कहलाता है। यही आगेकी गाथाओंमें बताते हैं—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीयवरा ॥३३॥
सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

श्रुतेनात्मानमाख्याति ज्ञायकं यः स्वभावतः।
श्रुतकेवलिनं तं हि वदन्ति जगदीश्वराः ॥३३॥
जिनोपज्ञ वचः श्रुत्यायज्ज्ञानं तच्छ्रुताभिधं।
जिनेन्द्रवचनश्चापि तन्निमित्ततया पुनः ॥३४॥

श्रुतज्ञानको पाकरके स्वज्ञायकपनपर चित्त दिया।
श्रुतकेवली नाम उसने ही ऋषि लोगोंसे प्राप्त किया ॥
जिनवरजीके दिव्य वचनका नाम सूत्र या श्रुत होता।
जिसे श्रवण कर भव्यजीव यह वोधोदधिमें ले गोता ॥१७॥

सारांशः—यहाँ पर आचार्यश्रीने—श्रुतज्ञान किसे कहते हैं? वह किस तरहसे होता है और उस श्रुतज्ञानका धारक जीव भी श्रुतकेवली

कब होता है ? ये तीनों बातें बताई हैं। सामान्य रूपसे सुनी हुई बात को श्रुत कहते हैं और उसके वाच्यार्थके जाननेको श्रुतज्ञान कहा जाता है। हमारे सुननेमें दो तरहकी बात आती है। एक तो अल्पज्ञकी अपनी तरफसे कही हुई बात जो उत्सूत्र कहलाती है। इससे हमको वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं होता है अतः इसके निमित्तसे हम सबको जो ज्ञान होता है वह कुश्रुतज्ञान होता है। किन्तु श्री वीतराग सर्वज्ञ अरहन्त देवके वचन या उन्हींके शिष्य प्रशिष्य श्री गणधरादिके वचनोंको सूत्र कहते हैं। जिससे हमको वस्तु तत्त्वका निर्देश प्राप्त होता है। उनके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहा जाता है। हमारे उस ज्ञानमें जिनवचन अनिवार्य निमित्त होते हैं। अतः कारणमें कार्यका उपचार करके जिनवचनको श्रुतज्ञान कहा जावे तो भी कोई हानि नहीं है।

शङ्काः—अर्हंतका उपदेश सुननेसे श्रुतज्ञान हो ही जावे, ऐसी बात भी नहीं है। देखो, श्री ऋषभदेवकी वाणीको सुनकर भी उनका पोता मारीच उलटा अधिक कुमार्गरत हो गया और उसका अज्ञान पहिलेसे भी अधिक दृढ़ बन गया।

उत्तरः—उसने भगवान्‌की वाणीको सुना ही नहीं। कानोंमें शब्द पड़ने मात्रका नाम सुनना नहीं है किन्तु भद्रतापूर्वक उसे स्वीकार करना ही सुनना कहलाता है जैसे किः—

बहुत कही प्रभुने उसे, उसने सुनी न एक।
उष्ण तेल ज्यों वारिसे, उलटी पकड़ी टेक ॥१॥

भगवान्‌की वाणीको उसने सुनी कहाँ ? उसने तो अहंभावसे उसकी निन्दा की। उसने विचार किया कि बाबा कहते हैं कि—मारीच आगे चलकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा। मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ उसहीका तो यह फल होगा कि मैं तीर्थङ्कर बनूंगा, फिर इसे क्यों छोड़ा जावे इत्यादि। जिन्होंने भगवान्‌के उपदेशको सुना वे अन्य तापस लोग सुमार्ग पर आ ही गये।

ज्ञान सामान्यतया एक होकर भी विशेषतासे वह कई प्रकारका है। उनमें आत्मोपयोगी दो ही होते हैं। एक साक्षात् पूर्णज्ञान, जिसे केवलज्ञान कहा जाता है। जो सफलतारूप है। दूसरा श्रुतज्ञान, जो उसका साधन है। श्री जिनवाणीके कथनानुसार यह जीवात्मा इतर सम्पूर्ण पदार्थोंसे दूर हटकर वीतराग बन करके अपनी आत्मामें स्थित होजावे तो उसके उत्तर क्षणमें स्वयं सर्वज्ञ केवली होजाता है।

श्रुतज्ञान दो प्रकारका है। एक द्रव्य श्रुतज्ञान और दूसरा भाव श्रुतज्ञान। जिन प्रवचनानुसार जीवाजीवादि पदार्थोंका निर्णय करके उनको यथार्थ रूपमें अपने हृदयमें अवधारण करनेको द्रव्य श्रुतज्ञान कहते हैं। उन इतर पदार्थों परसे अपने उपयोगको दूर हटाकर, संकल्प विकल्प रहित होकर, ज्ञायक स्वरूप अपने आत्मभावमें स्थित होनेको भावश्रुत कहते हैं। आचार्य महाराजका यह कथन है कि ऐसी ही अवस्थामें यह आत्मा श्रुतकेवली कहलाता है क्योंकि श्रुत (प्रवचन)के द्वारा अपनी आत्मामें जो, बल प्राप्त किये हुए हो वह श्रुतकेवली, ऐसा मतलब होता है।

जिसने अपनी वर्तमान अवस्थामें पूर्ण वीतरागता प्राप्त करली है, जो द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानके द्वारा अपने आत्मानुभवमें तल्लीन होरहा है, वह छद्मस्थ वीतराग जीव और स्पष्टदृष्टा सर्वज्ञ अर्हन्तदेव, ये दोनों ही केवली माने गये हैं। दोनोंका ज्ञान सम्पन्न होता है। भेद इतना ही होता है कि—केवलज्ञानीका ज्ञान सूर्य प्रकाशके समान बिलकुल साफ स्वच्छ और श्रुतकेवलीका ज्ञान दीपकके प्रकाशकी तरह कुछ धुँधलेपन को लिये हुए मंद होता है। जैसा कि श्री जयसेनाचार्यजी अपनी वृत्तिमें भी लिखते हैं—

"युगपत् परिणत समस्त चैतन्यशालिना केवलज्ञानेन अनाद्यनन्त निःकारणान्यद्रव्यासाधारण स्वसम्वेद्यमान परम चैतन्यसामान्यलक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवलस्यात्मन आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवान् केवली भवति तथायंगणधरदेवादि निश्चयरत्नत्रयाराधकजनोऽपि पूर्वोक्त

लक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसम्वेदनान्निश्चय श्रुतकेवली भवतीति यथा कोऽपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति ।"

शङ्काः—कोई कोई विद्वान् कहते हैं कि द्रव्य श्रुतकेवली तो नहीं किन्तु भाव श्रुतकेवली तो पशु भी हो जाता है क्योंकि तिर्यञ्चके भी पञ्चम गुणस्थान होना बताया है। जहाँ सम्यग्दर्शन आवश्यक है जो आत्मानुभव पूर्वक होता है और आत्मानुभव विना श्रुतज्ञानके हो नहीं सकता। क्या यह ठीक है ?

उत्तरः—संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु सम्यग्दर्शन सहित अणुव्रतोंका पालक हो सकता है, यह बात तो ठीक है किन्तु चतुर्थादि सकषाय गुणस्थानोंमें जो सम्यग्दर्शन होता है वह व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस अवस्थामें आत्मानुभव न होकर आत्मतत्वका श्रद्धान होता है जो सद्गुरु संदेशके अनुमननात्मक श्रुतज्ञानांशको लिये हुए होता है। आत्मानुभवनात्मक निश्चय (वीतराग) सम्यग्दर्शन तो महर्षि लोगोंके परम समाधिकालमें ही बनता है। इसको स्पष्ट करनेके लिए या तो ग्रन्थकारके सम्यक्त्वसारशतकको देखना चाहिए या श्री समयसारादि पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रंथोंका स्वाध्याय करना चाहिए।

आगे कुछ लोग ज्ञान और आत्माको भिन्न भिन्न मानते हैं, उनका प्रतिवाद किया जाता है—

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥३५॥
तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

जानातीति यज्ज्ञानं न ज्ञाता ज्ञानतः पृथक्।
ज्ञानं परिणमज्ञाति सर्वेऽर्थाज्ञानमास्थिताः ॥३५॥
आत्मैव ज्ञानतामेति ज्ञेयतां द्रव्यमस्य तु।
त्रिधा परिणमद् द्रव्य-मात्माऽन्यच्च प्रकीर्त्यते ॥३६॥

ज्ञान भिन्न है नहीं जीवसे इसीलिये जो जाने सो।
ज्ञान और सब ज्ञेय ज्ञानगत होते हैं स्वभाव ऐसो॥
ज्ञान जीव ही ज्ञेय जीव भी और द्रव्य भी होता है।
जो कि सदा परिणामनरूपसे त्रिविधभावको ढोता है॥१८॥

सारांशः—व्याकरणके अनुसार 'जानातीति ज्ञानं' जो जानता है वह ज्ञान होता है इसप्रकार कर्तृ साधनसे तो ज्ञान आत्माका ही नाम ठहरता है क्योंकि जाननेवाला आत्मा ही है परन्तु 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं' जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान होता है। इस तरहसे करण साधन करने पर आत्मा और ज्ञान भिन्न भिन्न ठहरते हैं। आत्मा तो जाननेवाला है और ज्ञान जाननेका साधन है। फिर भी यहाँ पर ऐसा भेद नहीं है जैसा कि कुठारके द्वारा लकड़ीको काटने वाले बढ़ईमें पाया जाता है। बढई और कुठार दोनों भिन्न भिन्न हैं।

ज्ञान आत्माका धर्म है और आत्मा उसका धर्मी है। जैसे कि अग्नि अपनी उष्णतासे भिन्न न होकर उसीका गुण है या धर्म व परिणमन है। केवल इनमें परस्पर परिणाम, परिणामी भाव बतानेके लिए इन्हें भिन्न भिन्न कहा जाता है। वास्तवमें प्रदेशत्वेन इनमें भिन्नत्व नहीं है। यदि ज्ञप्तिक्रियाके प्रति आत्मा कर्त्ता और ज्ञान उसका करण होने मात्रसे उन्हें भिन्न ही कहा जावे (जैसी कि कुछ लोगोंकी मान्यता है) तो फिर ज्ञानको लेकर आत्मा ज्ञानवान् ही बन सकता है। ज्ञ एवं ज्ञाता नहीं कहा जा सकता है परन्तु आत्मा ज्ञाता है। ज्ञानसे अभिन्न है, ज्ञानमय है। सब पदार्थ इसके ज्ञेय हैं। जानने योग्य हैं। आत्मा ज्ञानरूप भी है और ज्ञेयरूप भी है क्योंकि वह जिसप्रकार इतर पदार्थोंको जानता है उसीप्रकार अपने आपको भी जानता है। जो अपने आपको नहीं जानता है वह दूसरेको भी नहीं जान सकता है और न देख ही सकता है।

शङ्काः—हमारी आंखें अपने आपको तो नहीं देखतीं परन्तु दूसरों को देखा करती हैं, यह कैसे ?

उत्तरः—आँखें जैसे अपने आपको नहीं देखती हैं वैसे ही वे दूसरों को भी कभी नहीं देखती हैं किन्तु आंखोंके द्वारा हम देखते हैं। हमारी

आंखें तो हमारे लिए खिड़कीकी तरह हैं। ज्ञान हमारा स्वभाव है। यह हर एक पदार्थके अस्तित्वको बतलानेवाला है, यही हमको यह बताता है कि यह अमुक चीज है। ज्ञान अपने आपको नहीं जानता जब ऐसा कहा जाता है तब इसका मतलब यह हुआ कि ज्ञान है ही नहीं।

शङ्काः—अपने आपको न जाननेवाले ज्ञानका अभाव क्यों कहा गया है क्योंकि अपने आपको न जानकर भी उसको दूसरा ज्ञान या दूसरेका ज्ञान जान सकता है।

उत्तरः—दूसरा भी तो अपने आपको नहीं जाननेवाला ही है, फिर उससे क्या स्वार्थ सिद्ध हो सकता है? स्वयं गिरता हुआ मनुष्य किसी दूसरेको स्थिर रख सके यह कैसे माना जा सकता है? अतः अनवस्था दोषसे बचनेके लिए ज्ञानको स्वप्रकाशक भी मानना ही पड़ता है। ज्ञान हर पदार्थकी एवं अपने आपकी भी सत्ताको प्रकाशित करने वाला है, जो सत्ता=उत्पत्ति, विनाश और स्थिति इन तीनों रूपोंको लिए हुए होती है। एवं हर पदार्थकी सत्ता अपनी भूत और भविष्यत पर्यायोंके साथमें वर्त्तमानको सम्बद्ध रखते हुए एक शृंखलाके समान है। एवं सम्पूर्ण पदार्थोंकी अविकल सत्ता केवलीके ज्ञानका स्पष्ट विषय होती है, यही बताते हैं—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥
जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

सद्भूताश्चाप्यसद्भूता पर्याया युगपत् किल।
समस्त द्रव्यजातीनां ज्ञाने प्रतिफलन्ति ते ॥३७॥
येऽधुना नैव सञ्जाता भूत्वा नष्टाश्च पर्ययाः।
असद्भूताख्यया ते स्युः प्रत्यक्षा ज्ञानिनः सदा ॥३८॥

तात्कालिक पर्यायकी तरह भूत भावि पर्यायें भी।
झलका करती हैं सुबोधमें द्रव्योंकी सारी वे भी॥

जो न अभी हो पाई हो या होकर नष्ट हो चुकी हों।
असद्भूत वे पर्यायें भी गोचर स्फुट ज्ञानकी हों॥१६॥

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति॥३६॥
अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं॥४०॥

न भवेद्यदि चाध्यक्षं भूतो भावी च पर्ययः।
तदा ज्ञानस्यतस्याथ कीदृशी दीव्यता पुनः॥३९॥
अधिगच्छन्ति येत्वर्थ – मीहापूर्वकमिन्द्रियैः।
बाढं तेषामशक्यं स्या–दध्यक्षं भूतभाविनोः॥४०॥

होनेवाली और हो चुकी बात ज्ञानमें दिखे नहीं।
तो फिर दिव्यज्ञानकी महिमा और कौनसी कहो रही॥
इन्द्रियसन्निकर्षको ही यदि प्रत्यक्ष कहा जावे।
तो वह भूत भावि चीजोंको कुछ भी नहीं जान पावे॥२०॥

सारांशः—मानलो एक घासकी टाल लगी हुई थी। उसमें विजलीका करेण्ट लगकर आग हो गई। अब देखनेवाला देखता है कि कुछ देर पहिले यहाँ घास थी, अव आग बन गई और थोड़ी देरमें वह भस्म हो जायगी। इसप्रकार सर्व साधारण जब भूत भविष्यत और वर्तमान पदार्थकी पर्यायोंको जानता है तब केवलीका तो कहना ही क्या?

शङ्काः—पदार्थकी वर्तमान दशाकी तरह अतीत अनागत अवस्थाका ज्ञान होता है इस बातका कौन निषेध करता है किन्तु वर्तमानका तो प्रत्यक्ष और भूत भविष्यत पर्यायका स्मरण वगैरह हो सकता है जैसा कि ऊपर वाले उदाहरणसे भी स्पष्ट है। प्रश्न तो केवल इतना ही है कि जो अभी है ही नहीं, उसका भी प्रत्यक्ष होजावे, यह कैसे हो सकता है?

उत्तरः—प्रत्यक्षज्ञान कई प्रकारका होता है। इन्द्रियोंके द्वारा पदार्थका सन्निकर्ष होकर जो ज्ञान होता है उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं जैसे कि हम जीभसे चखकर आमके खट्टे मीठेपनको जान जाते हैं यह ज्ञान तो वर्तमान वस्तुका ही होता है, सो सही बात है। दूसरा मानसिक प्रत्यक्ष होता है। जब किसी मनुष्यका मन किसी चीज पर दृढतासे लगा हुआ होता है तब वह वस्तु दूर रह करके भी उसके सम्मुख नाचती हुई सी प्रतीत होती है, इसको स्वसंवेदन ज्ञान भी कहते हैं।

तीसरा ज्ञान योगी प्रत्यक्ष होता है जो योगियोंको अपने योग बलके द्वारा लोगोंके जन्म जन्मान्तरकी और सुदूर देशान्तरकी बातको भी स्पष्टरूपसे दिखलाया करता है। स्थूलसे स्थूल और निकटसे निकट रहने वाली चीजको तेजसे तेज आँखों वाला मनुष्य भी इतना स्पष्ट नहीं देख सकता है जितना स्पष्ट एक महर्षि अपने अनिन्द्रिय ज्ञानके द्वारा सूक्ष्मसे सूक्ष्म और दूरसे दूर रहने वाली चीजको भी देख लेता है।

यह ज्ञान इन्द्रियादि बाह्य कारणोंकी अपेक्षा न रखकर पूर्णरूपसे आत्माधीन होता है, इसलिये वास्तविक प्रत्यक्ष यही होता है क्योंकि अक्ष नाम भी आत्माका है, ऐसा संस्कृतके कोशकारोंने बताया है। एवं अक्ष अर्थात् आत्माके प्रति नियत होता है वह प्रत्यक्ष है ऐसा अर्थ ठीक हो जाता है। इसीको पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी कहते हैं क्योंकि यह ज्ञान परमार्थके ज्ञाता ऋषियोंके ही होता है।

यदि अक्ष शब्दका अर्थ इन्द्रिय माना जावे तो फिर यह उपर्युक्त ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं ठहरता है क्योंकि यह ज्ञान इन्द्रियोंसे नहीं होता है। इन्द्रियाधीन परतंत्र ज्ञानको प्रत्यक्ष कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है क्योंकि ज्ञान आत्माका गुण है। अतः आत्मतंत्र ज्ञान ही उसके अधिक सन्निकट एवं सहज तथा सरल होता है। वह ज्ञान चराचर सब जीवोंको स्पष्ट जानता है, यही बताते हैं—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं ॥४१॥

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स ।
णाणं ति जं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥४२॥

सप्रदेशोऽप्रदेशश्च मूर्तोऽमूर्तश्च पर्ययः ।
भूतो भावी च तमपि वेत्ति ज्ञानमतीन्द्रियम् ॥४१॥
ज्ञेयमनुचलज्ज्ञानं तावत्तु क्षायिकं न तत् ।
ज्ञानाधि ज्ञेप्तृ कर्मैव तत्र किन्तु प्रवर्तते ॥४२॥

मूर्त अमूर्त स्थूल सूक्ष्म हो चुका और होने वाला ।
हाल अतीन्द्रिय बोधगम्य हो क्या जाने इन्द्रिय वाला ॥
इष्टानिष्ट विकल्पयुक्त जो ज्ञान वस्तुको लखता है ।
अक्षायिक वह ज्ञान जीवका स्वयं कर्मफल चखता है ॥२१॥

सारांशः—पदार्थोंका परिणमन दो प्रकारका होता है । एक प्रदेशत्वगुणके विकाररूप स्थूल परिणमन और दूसरा अप्रदेशात्मक सूक्ष्मपरिणमन । दूसरी तरहसे एक मूर्त रूप, रस गंधादिमय । दूसरा अमूर्त=रूपादिसे रहित । किञ्च एक वर्तमान और दूसरा, अवर्तमान (हो चुका या होनेवाला) । वर्तमान मूर्त पदार्थोंके स्थूल परिणमनको इन्द्रियज्ञान यथासंभव जान सकता है । यह बात ठीक है परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान तो स्थूल और सूक्ष्म, मूर्त और अमूर्त, वर्तमान तथा भूत और भावी सभी प्रकारके परिणमनको जानता है । अतीन्द्रय ज्ञान आत्माके कर्मोंका नाश करनेवाला होता है किन्तु इन्द्रियाधीन ज्ञान, हर पदार्थके पीछे लग कर, उसमें भला बुरापन माननेके कारण कर्मोंको जीतनेमें असमर्थ ही रहता है और अपने किये हुए कर्मोंके फलको भोगता रहता है ।

शङ्काः—अवधिज्ञान और मनःपर्यय नामके अतीन्द्रिय ज्ञानसे भी तो वन्ध होता है । केवल इन्द्रियज्ञानसे ही बंध क्यों कहा गया, यह समझमें नहीं आया ?

उत्तरः—वस्तुतः इन्द्रियजन्य ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान इसप्रकारसे दो ज्ञान भिन्न भिन्न नहीं हैं । ज्ञान तो पहिले बताया जा चुका है कि

वह आत्माका गुण है, वह एक ही है, उसका काम जानना है परन्तु जैसे लज्जाशील नवविवाहिता कुलवधू अपने घूंघटकी ओटमें देखा करती है। वह अपने पीहरवालोंको देखकर प्रसन्न होजाती है और ससुराल वालोंको देखकर संकुचित होजाती है तथा पराधीनतामें जकड़ी हुई रहती है। इसीप्रकार यह संसारी आत्मा भी अपने मोहनीय कर्मके कारण, सेन्द्रियताके परदेमें होकर देखता जानता है। यह अपने अभीष्टको देखकर प्रसन्न और अनिष्टको देखकर दुखी हो जाता है एवं कर्मबंध करता रहता है। कर्मबंधका कारण देखना और जानना नहीं है किन्तु पदार्थको भला या बुरा मानकर उससे रागद्वेष करना है।

यह मखमली गद्दा बहुत कोमल है, सुहावना है, यह कङ्करीली जमीन कठोर है, चुभती है, दुख देती है। हलवा मीठा और सुस्वादु है किन्तु यह नीमका पत्ता कड़वा है, खाया नहीं जाता। गुलाबके फूलकी सुगंध बहुत अच्छी है परन्तु मिट्टीके तेलकी दुर्गंधसे नाक फटा जारहा है। चन्द्रमा तो देखनेमें अच्छा लगता है परन्तु भूतको देखकर तो डर लगता है। कोयलकी बोली बड़ी प्यारी है और कौएका शब्द बड़ा बुरा लगता है। इसप्रकारसे इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहणकर जानते हुए राग-द्वेषरूप प्रवृत्त होता है।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके द्वारा जानते हुए भी पदार्थके प्रति जो भले बुरेपनकी कल्पना उठती है, वह सब इन्द्रियाधीनताको लेकर ही चलती है। वास्तवमें तो कोई भी पदार्थ न तो भला ही है और न बुरा ही है। हरएक पदार्थ अपने अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भावके अनुसार परिणमन करता है। ज्ञान उसे जानता है। इसीलिये आगमकारोंने इन्हें विकलातीन्द्रिय और देशप्रत्यक्षके रूपमें स्वीकार किया है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी जब इष्टानिष्ट कल्पनासे रहित होकर, इतर पदार्थोंसे दूर रह कर, केवल आत्म तल्लीन होजाते हैं उस समय वे भी प्रत्यक्ष कहे जाते हैं। 'क्षयः प्रयोजनं यस्य तत् क्षायिकं' इस निरुक्तिके अनुसार ज्ञानावरणादिक कर्मोंके नाशके कारण हो जाते हैं।

मतलब यही है कि न तो ज्ञान ही बंधका कारण है और न आत्माकी चेष्टा ही बंधका कारण है। बंधका कारण तो आत्माका रागद्वेष है, यही आगे बताते हैं—

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥४३॥
ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं ॥४४॥

मोहाद्रागादथद्वेषा – द्बन्धमाप्नोति देहवान्।
निर्यान्ति किन्तु कर्मांशा जिनानामुदयं गताः ॥४३॥
युवतीनां यथा हाव–भावाद्या अप्रयत्नतः।
तथोपदेशगमनस्था–नाद्या अर्हतां क्रियाः ॥४४॥

उदयागतविधि नियतरूपसे जिनवरके खिर जाता है।
मोह रोष या रागभावसे जीव बंध कर पाता है॥
स्थान गमन धर्मोपदेश ये क्रिया नियत हो जिनजीके।
विना यत्न ही देखा जाता स्त्रीपना ज्यों युवतीके ॥२२॥

सारांशः—कर्मबंधकारक संसारी आत्मामें मोटी ४ बातें पाई जाती हैं। १ चेतना २ कर्मोदय ३ चेष्टा और ४ विकार। इनमेंसे चेतना अर्थात् ज्ञान तो बंधका कारण हो ही नहीं सकता है क्योंकि ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है। यदि ज्ञानको ही बंधका कारण माना जावे तो फिर ज्ञान तो सिद्ध दशामें भी रहता है। वहाँ भी बंध होना चाहिये।

कर्मोदय और उससे होनेवाली चेष्टा ये दोनों भी कर्मबंधके कारण नहीं होते हैं क्योंकि कर्मोंका उदय और उनकी चेष्टा=क्रिया चलना ठहरना बोलना वगैरह अरहन्त भगवानके भी पाई जाती है जिनसे उनके भी ईर्यापथ आस्रव मात्र होता है। बंध नहीं होता है। बंध तो राग द्वेष मोह भावरूप विकारके द्वारा ही होता है जो अरहन्त अवस्थामें बिलकुल नहीं होता है।

कर्मोंका उदय दो प्रकारका होता है। एक तो प्रदेशोदय और दूसरा विपाकोदय। प्रदेशोदय बालविवाहकी तरह विकारकारक न होकर प्रक्रम मात्र होता है और विपाकोदय वयस्कविवाहकी तरह विकारकारक होता है। निरीहा और समीहाके भेदसे चेष्टा भी दो प्रकारकी होती है। हम जब निद्रित अवस्थामें कुछ वोलने लगते हैं अथवा हिलते डुलते हैं तब वह हमारी चेष्टा जागृत अवस्थामें होनेवाली चेष्टाके समान इच्छापूर्वक नहीं होती है किन्तु विना इच्छाके ही होती है।

इसीप्रकार भगवान् अरहन्तके जो चलना और बैठना आदि क्रियाएं होती हैं वे विना इच्छाके ही होती हैं तथा उनके कर्मोंका उदय भी प्रदेशोदयमात्र होता है। जैसे स्त्रियोंके युवावस्थामें अनायास ही हाव भाव विलास विभ्रमादि चेष्टाएं विकसित होजाती हैं वैसे ही श्री जिन भगवानके तीर्थङ्कर नामकर्मादिके उदयसे दिव्यध्वनि होना आदि क्रियायें हुआ करती हैं। ये सब क्रियायें भगवान्के कर्मोदयसे होनेवाली होती हैं परन्तु आगेके लिए कुछ भी वन्धकारक न होकर पूर्व बन्धके क्षयके लिए ही होती हैं, यही अब बताते हैं—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥४५॥
जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

प्रशस्ततमपुण्ये नार्हतामौदयिकी क्रिया।
किन्तु मोहाद्यभावेन संसारच्छेदिनी मता ॥४५॥
शुभाशुभतया स्वस्य परिणामं न चेच्छ्रयेत्।
तदार्हन्निव जीवोऽयं न संसारमनुव्रजेत् ॥४६॥

यद्यपि दिव्यध्वन्यादि क्रियायें औदयिकी हैं जिनजीके।
किन्तु मोहके बिना वहाँ वह क्षयंकरी होती नीके ॥
जिनवरजीकी तरह शुभ अशुभ अगर नहीं कोई होवे।
तो फिर संसारावस्थामें पड़ा कष्ट को क्यों जोवे ॥२३॥

सारांशः—मोहके न होनेसे श्री अरहन्त भगवान् अपने कर्मोंके उदयमें शुभ और अशुभ न होकर तटस्थ बने रहते हैं वैसेही हम लोग भी यदि अपने मोहभावको दबाकर अपने पूर्वोपार्जित शुभ तथा अशुभ कर्मोंको मध्यस्थभावसे सहन करते जावें और हर्ष विषाद न करें तो धीरे धीरे कर्मोंसे उऋण होकर अपने संसारभ्रमणका अभाव कर सकते हैं। जिसप्रकार श्री अरहंत देवने कर बताया है परन्तु हम सबका तो यह हाल है कि—

हम अपने शुभके उदयमें तो हर्षसे फूल जाते हैं और जब अशुभ का उदय आजाता है तब उसे बुरा मानकर रोने लगते हैं। इसी दुर्ध्यानमें अपनी आत्माको भूले हुए हैं। इसीकारण हमारा ज्ञान चञ्चल और वैभाविक वना हुआ है। किसी एक बातको भी यथार्थ रूपमें नहीं जान रहा है किन्तु वीतराग भगवान्का ज्ञान सब बातोंको एक साथ जाननेवाला होता है, यही अब बताते हैं—

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥४८॥

युगपत् सर्ववस्तूनां गतांश्चानागतानपि।
जानाति क्षायिकं ज्ञानं पर्यायान् वर्तमानवत् ॥४७॥
यो न जानाति युगपत् त्रिकाल त्रिजगद्गतान्।
एकोऽप्यर्थः सपर्यायो ज्ञातुं तेन न शक्यते ॥४८॥

वर्तमानकी तरह भाविभूतोंको जो युगपत्त जाने।
वह ही क्षायिकज्ञान सदा मूर्तामूर्तोंको पहिचाने ॥
तीनलोक या तीन कालकी चीजोंको नहिं जान सके।
एक चीजको भी पूरी अनुभव करनेमें क्यों न थके ॥२४॥

सारांशः—निरावरण क्षायिक ज्ञान तीनों लोकोंमें पाये जाने वाले सब पदार्थोंकी भूत भविष्यत वर्तमान कालकी सम्पूर्ण अवस्थाओंको एक साथ जानने वाला होता है क्योंकि ज्ञानका स्वभाव जाननेका है।

क्षायिक ज्ञानमें किसी भी प्रकारकी रुकावट शेष नहीं रहती है। वह एक देश, कालगत किसी एक पदार्थकी एक अवस्थाको जानता है इसी-प्रकार सर्व देश काल गत सम्पूर्ण पदार्थोंकी सभी पर्यायोंको जान सकता है। इसमें कौनसी बाधा है ?

जैसे पानीका स्वभाव, अपने भीतर पत्थरको डुबा लेनेका है। वह समुद्रका पानी किसी एक पत्थरको तो अपने भीतर डुबा लेवे किन्तु दूसरेको न डुबा सके ऐसा नहीं होसकता है। उसमें तो जितने भी पत्थर गिरेंगे सब तत्काल डूब ही जावेंगे। इसीप्रकार सर्वज्ञके ज्ञानका विषय है। जितने भी ज्ञेय हैं वे सब उसमें झलकते हैं।

हमारे आध्यात्मिक सन्तोंने एक शब्दका अर्थ भी आत्मा ही स्वीकार किया है। महर्षि कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जो एक अर्थात् अपनी आत्माको अच्छीतरह जानता है वह संसारके सभी पदार्थोंको जाननेवाला होता है। जो सबको जानने वाला नहीं होता, वह अपने आपको भी पूर्णरूपसे नहीं जान सकता है क्योंकि आत्मा ज्ञानरूप है। ज्ञान ज्ञेय परिमित है जैसा कि पहिले बता आये हैं। सम्पूर्ण ज्ञेयोंको जानना ही ज्ञानकी पर्याप्तता है। ज्ञानकी पर्याप्तताका होना, आत्माकी अविकल दशा है। जो सबको एक साथ पूर्णरूपसे जाने वही सर्वज्ञ होता है, इसीको आगे स्पष्ट करते हैं—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥
उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं ॥५०॥

दधन्ति गुणपर्याया – ननन्तानेकशो भृशम्।
न विजानाति वस्तूनि सर्वज्ञः स कथं भवेत् ॥४९॥
क्रमशोऽर्थाननुगृह्य ज्ञानमुत्पद्यते तु यत्।
अक्षायिकमनित्यंतन्नसर्वगतमिष्यते ॥५०॥

एक चीजमें अनन्तगुण हैं यों अनन्त चीजें सारी।
उन्हें नहीं सहसा यदि जाने कैसा पूर्ण बोध धारी॥
हाँ जो ज्ञान पूरे क्रमसे एकैक बातको लेकरके।
वह अक्षायिक होता है वह कभी न सबको जान सके॥२५॥

सारांशः—इस भूतल पर अनन्त द्रव्य हैं। इनमेंसे प्रत्येकमें अनन्त गुण हैं और एक एक गुणकी अनन्त अनन्त पर्यायें होती हैं। इन सबको एक साथ न जाननेवाला सर्वज्ञ कैसे होसकता है? क्रमपूर्वक जाननेवाले ज्ञानमें एकको जानते समय दूसरेका ज्ञान नहीं और दूसरेको जानते समय पहिलेवालेका ज्ञान नहीं रहता है, अतः क्रमबद्ध ज्ञानसे सर्वज्ञता असंभव ही है।

यदि यह कहा जाय कि एक एक बातको जानकर जिसप्रकार हम बहुज्ञ बन जाते हैं वैसे ही सर्वज्ञ भी बन सकते हैं सो प्रथम तो ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि चीजें अनन्त हैं। एक एक करके उनका अंत ही नहीं आसकता है। कदाचित् ऐसा मान भी लिया जावे तो अन्तमें सब चीजोंका ज्ञान हमको एक साथ हुआ, तभी तो सर्वज्ञ हुए। जैसे कि कोई मनुष्य एक एक चीज ला लाकर अपने भण्डारमें रखता जारहा हो और यों कुछ दिनोंमें सब चीजें इकट्ठी करके सर्वसम्पन्न हो जाता है। उस समय उसके पास सब चीजें होती हैं इसीलिये वह सर्व सम्पन्न कहलाता है। यदि वह इतर वस्तुओंका संग्रह करते करते पूर्व वस्तुओंको नष्ट करता जाय तो सर्व सम्पन्न नहीं बन सकता है। इसीप्रकार क्रमिक ज्ञानमें कुछका ज्ञान एकसाथ होता है और फिर इतर कुछका ज्ञान होते समय पहिले वाली वस्तुका ज्ञान नहीं रहता क्योंकि ऐसा ज्ञान कर्मोदयके कारण क्षणस्थायी होता है। ऐसी दशामें सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? अतः मानना चाहिये कि—

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थ संभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं॥५१॥
णवि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो॥५२॥

त्रिकालं नित्यमसमं चित्रं सर्वार्थसम्भवम् ।
जैनं ज्ञानमहोपूर्णं युगपन्महतां – मतम् ॥५१॥
नार्थमुद्दिश्य निष्पन्न – मचलंग्रहणातिगम् ।
ज्ञानेन तेन जानन्न – प्यात्मायं वन्धवर्जितः ॥५२॥

भूत भविष्यत वर्तमान की सव बातोंको जिनजीका ।
ज्ञान जानता एक साथमें वही ज्ञान क्षायिक नीका ॥
नहीं किसी भी एक चीजको लेकर वने और वदले ।
ऐसे ज्ञानभावका धारक हो वह क्यों भव बीच रुले ॥२६॥

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु ।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥
जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं ।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥५४॥

अतीन्द्रियमैन्द्रियश्चा–मूर्तं मूर्तार्थयोगि च ।
ज्ञानं सुखं तयोराद्य–मादेयं हेयमन्तिमम् ॥५३॥
सूक्ष्ममन्तरितं दूरं मूर्तामूर्तं निजं परम् ।
स्पष्टं जानाति यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमिहेष्यते ॥५४॥

इन्द्रियजन्य बोध सुख मूर्तिक हो इससे और तरह भी ।
हेय यही आदेय दूसरा यों कहते आचार्य सभी ॥
सूक्ष्मान्तरित दूर चीजोंको सवको सदा जानता है ।
वह ही है प्रत्यक्ष वहाँ आत्माधीन प्रमाणता है ॥२७॥

सारांशः—इन्द्रियजन्य और इन्द्रियातीतके भेदसे ज्ञान जैसे दो प्रकारका होता है वैसे ही सुख भी दो प्रकारका होता है क्योंकि सुखका ज्ञानके साथमें अविनाभाव सम्बन्ध है । जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ सुख होता है और जहाँ ज्ञान नहीं होता है वहाँ सुख भी नहीं होता है ।

शङ्काः—ज्ञानके साथमें सुख ही क्यों ? दुःख भी तो हुआ करता है । जब हम लोग शक्कर खाते हैं तव सुख होता है किन्तु नमक खाते हैं तो दुःख होता है ।

उत्तरः—तुमने बात कही किन्तु कुछ सोच विचारकर नहीं कही। नमक खानेसे दुःख ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। कभी सुख भी होता है। जैसे किसी शाकमें नमक न हो या कम हो तब यह कहा जाता है कि आज शाकमें नमक नहीं है, इसलिये अच्छा नहीं लगता है। यहाँ नमकसे सुख भी होता है। इसीप्रकार जब एक मनुष्य बरफी खाता है और बरफीमें यदि मावा (खोवा) कम होकर शक्कर अधिक होती है तब कह देता है कि इसमें तो शक्कर ही शक्कर है, इसलिये अच्छी नहीं लगती है। यहाँ शक्करसे सुख न होकर दुःख हो रहा है, अतः न नमक खानेमें दुख है और न शक्कर खानेमें सुख है किन्तु बात कुछ और ही है।

वह यह है कि संसारी आत्माके ज्ञानके साथमें इच्छा लगी हुई होती है। इस इच्छामें जब कोई बाधा आती है तब उस विपरीत कार्यमें ज्ञान सुखरूप न रह कर दुःखरूपमें परिणत होजाता है अर्थात् उसमें विकार आजाता है। इच्छाके होनेसे ही आत्माका ज्ञान सर्वाङ्गी व्यापक न होकर एकाङ्गी और क्रमिक बना हुआ है।

मानलो आप किसी शहरके बाजारमें पहुँचे और एक कुकर चूल्हा खरीदनेकी इच्छासे चले जारहे हैं। अनेक दुकानें आपकी दृष्टिमें आती हैं परन्तु उन्हें छोड़ते हुए आप सीधे किसी बरतनवालेकी दुकान पर पहुँचते हैं। वहाँ पर भी कई प्रकारके बरतन रखे हुए हैं जो आपके देखनेमें आरहे हैं परन्तु आपका मन तो कुकर चूल्हेकी ओर ही है। उधर ही लग रहा रहा है कि यह रहा कुकर चूल्हा। यदि वहाँ कुकर चूल्हा न हो तो आप दुकानदारसे पूछते हैं कि क्या तुम्हारे पास कुकर चूल्हा है? इस पर यदि उसने उत्तर दिया कि कुकर चूल्हा तो नहीं है। तब आप शीघ्र ही कह देते हैं कि जब तुम्हारे पास कुकर चूल्हा नहीं है तो और क्या है? कुछ भी नहीं है, ऐसा कहकर चल देते हैं।

मार्गमें भी यदि कोई पूछता है कि आप कहाँ गये थे? तब आप यही उत्तर देते हैं कि बाजारमें गया था परन्तु इस बाजारमें क्या रक्खा है? कुछ भी तो नहीं है। मुझे एक कुकरकी आवश्यकता थी,

वही यहाँ नहीं मिला। अब विचारकी बात है कि यद्यपि बाजारमें बहुतसी चीजें हैं किन्तु आपका ज्ञान कुकरकी इच्छासे बँधा हुआ है इसीलिये आप ऐसा कहते हैं और दुखी होते हैं। यदि आपके यह इच्छा न हो तो आप ही कह देंगे कि इस बाजारमें तो बहुत सी विचित्र विचित्र वस्तुएं हैं। इनको देखकर मेरा मन प्रसन्न हो रहा है। तुम्हें क्या २ बताऊं जिनको देखा उनको मेरा मन ही जानता है। यह तो एक उदाहरण है।

इसीप्रकार संसारी जीवका ज्ञान सदा इच्छाओंमें फँसा रहता है, अतः संकुचित हो रहा है। केवल इन्द्रियोंके आश्वासनरूप सुखके साथ साथ श्रमरूप दुःखको भी लिये हुए होता है। जिन लोगोंने सब प्रकारकी आवश्यकताओं पर विजय प्राप्त करली हो, जो निरीह होचुके हों, उन्हें जिन कहते हैं। इनका ज्ञान अखण्ड और सबको एकसाथ जाननेवाला होता है। इनका सुख भी स्वाभाविक और शाश्वत होता है, जो उपादेय है। इन्द्रियजन्य ज्ञान और सुख पराधीन होते हैं इसलिये हेय हैं, यही आगे बताते हैं—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥५५॥
फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

अमूर्तोऽयं मूर्तिमत्वात् मूर्तभावेन तादृशम्।
अवग्रहादिभिः किञ्चित् परिजानाति चेतनः ॥५५॥
स्पर्शरसगन्धवर्ण – शब्दाः पुद्गलसम्भवाः।
त्वगादीन्द्रिय संग्राहया युगपत्तु कदापि न ॥५६॥

है अमूर्त यह किन्तु मूर्तिगत है अनादिसे इसीलिये।
जाना करता मूर्त चीजको यथायोग्य व्यवधान किये॥
स्पर्श और रसगन्धवर्ण या शब्दरूप पुद्गल क्रमसे।
जानी जाया करती किन्तु न एक साथ इन्द्रिय श्रमसे ॥२८॥

सारांश:—यह चेतना लक्षण वाला आत्मा यदि अपने स्वभावमें आजावे तब तो विलकुल अमूर्त है। आकाशके समान किसीसे भी बाँधा हुआ बँध नहीं सकता। जलमें गल नहीं सकता। अग्निसे जल नहीं सकता और हवासे सूख नहीं सकता है किन्तु यह तो अनादिकालसे मूर्त्तिमान् पुद्‌गलके साथमें घुलमिल रहा है। अपने आपमें न होकर मूर्त्त-पन धारण किये हुए है अतः इस मूर्त शरीरगत स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा मूर्त पदार्थको ही अवग्रहादिकके रूपमें कुछ कुछ जानता रहता है। ऐसा जानना, इस विश्वप्रकाशक आत्मा प्रभुके लिए न जाननेके समान ही है। स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा स्पर्शका, जीभके द्वारा रसका, नाकसे गंधका, आँखसे रूपका और कानसे शब्दरूप पुद्‌गलका स्थूल ज्ञान होता है। यह भी एक साथ न होकर क्रमपूर्वक होता है। जिस समय रूपको देखता है, उस समय रसको नहीं चख सकता है। जिस समय रसको चखता है, उस समय गंधको नहीं सूंघ सकता है अर्थात् एक समयमें एक ही इन्द्रियके विषयका ज्ञान कर सकता है।

शङ्काः—जब हम आम चूंसते हैं तब जीभसे उसके रसको, नाकसे उसकी गंधको, हाथसे उसके स्पर्शको और आँखसे उसके रूपको एकसाथ ही तो जानते हैं ?

उत्तरः—स्थूल दृष्टिसे तुम कह रहे हो वैसा ही है परन्तु यदि गंभीरताके साथ विचार कर देखें तो वहाँ समयका भेद बना हुआ रहता है। जैसे किसी मनुष्यने सैंकड़ों पानोंके समूहमें बड़े वेगके साथ सूई चुभो दी, जिससे उन सब पानोंमें छेद होगया। तब हम लोग कहते हैं कि इसने एक ही साथ इन सब पानोंमें छेद कर दिया है। वास्तवमें देखा जावे तो छेद, उन पत्तोंमें एकसाथ न होकर क्रमपूर्वक ही हुआ है। इसीप्रकार इन्द्रिय ज्ञानकी प्रवृत्ति भी भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके विषयों में क्रमपूर्वक ही होती है। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष ज्ञान होता है, यही अब बताते हैं—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥५७॥

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमट्ठेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

हृषीकाण्यन्य द्रव्याणि दृश्यरूपतयाऽऽत्मनः ।
अदृश्यात्तैः समुत्पन्नं प्रत्यक्षं कथमात्मनः ॥५७॥
निरुच्यते परोक्षं तत् यत् स्यात् परसहायतः ।
केवलेनात्मना ज्ञातं प्रत्यक्षमिति सम्मतम् ॥५८॥

अन्यचीज इन्द्रियाँ जीवसे वह अदृश्य ये दृश्य अहो ।
इनपरसे हो ज्ञान हन्त वह फिर कैसा प्रत्यक्ष कहो ॥
क्योंकि दूसरेकी सहायतासे हो उसे परोक्ष कहा ।
केवल आत्मभावसे होनेवाला ही प्रत्यक्ष रहा ॥२९॥

सारांशः—सन्त सम्प्रदायमें जो ज्ञान दूसरेकी सहायतासे हो वह परोक्ष है और जो केवल आत्मतन्त्र हो उसका नाम प्रत्यक्ष है । एवं इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ही होता है । इन्द्रियाँ सब पौद्गलिक हैं, आत्मासे भिन्न हैं । जैसे हमारी आँखें कमजोर हो जाने पर हम लोग ऐनक (चश्मा) लगाकर देखा करते हैं, वैसे ही संसारी आत्माका ज्ञान कर्मोंसे दबा हुआ है (निर्बल है) इसलिये चक्षु आदि इन्द्रियोंकी सहायतासे अपना कार्य करता है । जहाँ आत्मा और शरीरको एकसाथ समझा जा रहा हो उस भौतिक दृष्टिमें भले ही इसे प्रत्यक्ष कहा जावे किन्तु आत्मज्ञोंके विचारमें यह ज्ञान परोक्ष ही होता है, इसमें आत्माको श्रमका अनुभव करना पड़ता है अतः दुःखरूप ही है किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान सुखरूप होता है । यही अब बताते हैं—

जादं सयं समत्तं णाणमणंतत्थ वित्थडं विमलं ।
रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगंतियं भणियं ॥५९॥
जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव ।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥६०॥

सहजं विमलं सर्व विषयं यदनन्तदृक् ।
अवग्रहादिभिर्हीनं ज्ञानमेतद्धि सौख्यवाक् ॥५९॥
यतो घातिक्षयाज्जातं केवलं ज्ञानमिष्यते ।
किन्नामस्यात् परं सौख्यं यत्र खेदो न जातुचित् ॥६०॥

सहज समस्त अनन्त अर्थगत विमल क्रमवर्जित जो है ।
ऐसा केवल बोध विश्वमें वही वास्तविक सुख सो है ॥
विपरिणामनसे रहित केवल ज्ञान सदा सुख करता है ।
घातिनाश करनेके कारण खेद कदापि न धरता है ॥३०॥

सारांशः—ज्ञानावरणादि आठकर्मोमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं । ये आत्माके अनुजीवी गुणोंका घात करते हैं । १. ज्ञानावरण ज्ञानको नहीं होने देता है २. दर्शनावरण देखने नहीं देता है ३. मोहनीय कर्म सुख नहीं होने देता है और ४. अन्तराय कर्म आत्मबल नहीं होने देता है ।

शेष चार कर्म अघाति हैं । ये आत्माके मुख्य गुणोंका घात न करके, उन्हीं घातिया कर्मोकी सहायताके लिए परिकरके रूपमें होते हैं । जैसे १. वेदनीय कर्म इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंका संयोग कराता है २. आयुकर्म मनुष्यादिरूप किसी भी एक शरीरमें रोककर रखता है ३. नामकर्म काणा, खोड़ा आदि अनेक प्रकारकी शरीरकी अवस्थायें बना देता है और ४ गोत्र कर्म इस जीवको कभी उच्च और कभी नीच बना देता है । इसप्रकार इन आठों कर्मोका यह संक्षिप्त कार्य है । इनमेंसे श्री अरहंत देवके चार घातिया कर्मोका नाश होजाता है । इसीलिये वे भगवान् अपने पूर्ण आत्मबलसे सम्पूर्ण पदार्थोके ज्ञाता, दृष्टा और सदाके लिए सुखी होजाते हैं । इनके सुखके साथमें अब खेदका नाम लेश भी नहीं रहता है ।

शङ्काः—अरहंत भगवान्के भी खेदका सर्वथा अभाव तो नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इनके भी साता और असाता नामके दोनों प्रकारके वेदनीय कर्मका सद्भाव रहता है । इनका कार्य सुख और दुख देना है । इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है कि—जो कर्म जिस कारणसे

बनता है, वह कर्म अपने फलकालमें उसीको उत्पन्न भी करता है। जैसे कषायें करनेसे मोहनीय कर्म बनता है तो वह कषायोंको ही उत्पन्न कराता है।

तत्वार्थसूत्रके कथनानुसार भी—दुःख शोक आदिसे असाता वेदनीय कर्मका बंध होता है और वह दुःख शोकादिको ही उत्पन्न करता है। इसीका समर्थन आगे नवमें अध्यायमें, परिषहोंके वर्णनमें मिलता है। यहाँ पर भी यह बताया है कि—बाईस परिषहोंमें से प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परिषह ज्ञानावरणीय कर्मसे होते हैं। अदर्शन परिषह और अलाभ परिषह, दर्शनमोह तथा अंतराय कर्मके कारणसे होते हैं। नग्न, अरति, स्त्री, आसन, दुर्वचन, याचना और सत्कारपुरस्कार परिषह चारित्रमोह के उदयसे होते हैं। शेष क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परिषह वेदनीय कर्मके उदयसे होते हैं। ये जिन भगवान्के भी होते हैं। ऐसा स्पष्ट वर्णन है।

उत्तरः—सभी कर्मोंका बंध मोह राग द्वेषसे अर्थात् कषाय भावोंसे होता है। कषाय रहित जीवके किसी भी कर्मका बंध नहीं होता है। ऐसा भी तत्वार्थसूत्रही में लिखा हुआ है। वहाँ बंधकारक साम्परायिकाश्रव और अबंधकारक ईर्यापथाश्रव है, इसप्रकार आश्रवके दो भेद बतलाये हैं। साम्परायिक आश्रव कषाय सहित जीवोंके होता है और कषाय रहित संसारी जीवोंके ईर्यापथ आश्रव होता है, यह एक अनपवाद नियम है। यहीं पर विशेष विशेष कर्मोंके विशेष विशेष कारण बताये हैं, वे सब तो तादृश कषायोंके विशेष हैं। उन उन जातिके कषायविशेषोंसे उन उन जातिके कर्मोंका विशेष बंध होता है।

जैसे दुःखादिरूप कषाय भाव होनेसे असाता वेदनीयका और दयादिरूप सरल कषाय भाव होनेसे साता वेदनीयका बंध होता है। साता वेदनीयका उदय नियमसे अनुकम्पादिकको उत्पन्न करे ऐसी बात नहीं है। सरागसंयमादिरूप भावसे देवायुका बंध होता है किन्तु देवायुका उदय सरागसंयमादिभावोंको कभी भी उत्पन्न नहीं करता है, वह तो सरागसंयमादिरूप भावोंका विरोधी है।

अपने कारण कलापसे बना हुआ वेदनीय कर्म भी अपने उदय-कालमें संसारी रागी द्वेषी जीवको इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग कराता है। जिनको अपने कषायांशके अनुसार इष्ट और अनिष्ट मानकर यह मोही जीव सुखी और दुखी होता है। वेदनीय कर्म इस जीवको सुखी और दुखी नहीं बनाता है। जैसे एक नगरमें रहने वालोंको निश्चित समाचार मिला कि—कल यहाँ बड़े जोरसे भूकम्प होगा जिससे सब मकान नष्ट हो जावेंगे, लोगोंको सावधान हो जाना चाहिये। इससे नगरके सब लोग नगरको छोड़कर जंगलमें जाने लगे। सभी नगर निवासियोंके अकस्मात् अशुभका (असातावेदनीयका) उदय आया जिससे उनका स्थान छूट गया। अब चलते चलते सामनेसे आता हुआ एक डाकू दिखाई दिया। जो मनुष्य अपने साथ सामान लेकर निकला था, वह सोचने लगा कि कैसा घोर पाप कर्मका उदय आया है। घर तो छूट ही गया परन्तु जो कुछ पासमें है उसे भी यह छीन लेगा। अब क्या किया जावे ? ऐसा विचार करके वह घोर दुखी होता है।

दूसरा मनुष्य जो गरीब मजदूर था, जिसके पास कुछ भी नहीं था, वह सोचता है कि यद्यपि सामनेसे डाकू आरहा है परन्तु मेरे पास क्या है ? घर तो छूट ही गया अब तो मजदूरी करके पेट भरता है अतः यह डाकू मेरा क्या करेगा ? मेरे पास है ही क्या जिसे छीनेगा। ज्यादा करेगा तो मुझे अपने साथ रख लेगा, इसका काम करूंगा और पेट भरूंगा। इसप्रकार वह अत्यन्त विह्वल न होकर, कुछ अर्द्ध सुखी सा बनकर तटस्थ होजाता है।

दूसरी ओरसे जानेवाले लोगोंकी एक साहूकारसे भेंट होगई। तब जो कुछ काम करने लायक है वह विचार करता है कि घर तो छूटा सो छूटा परन्तु इन सेठ साहबसे भेंट होगई सो अच्छा हुआ, इनकी सहायतासे कुछ कार्य करूंगा जिससे सब ठीक हो जावेगा। एक मनुष्य जो वृद्ध है और कुछ भी काम धन्धा करनेके योग्य नहीं है, वह यह सोचता है कि, क्योंकि यह सेठ है इसलिये कुछ भी काम धन्धा बता सकता है, फिर भी इससे क्या ? जबकि मैं स्वयं कुछ भी करनेके योग्य नहीं हूँ। ऐसा विचार करके वह मध्यस्थ होजाता है।

इन सब उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि जिसको जितना मोह भाव है उसको इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उतना ही हर्ष और विषाद होता है। पदार्थोंके प्रति इष्ट अनिष्टकी कल्पना ही मोहभावसे हुआ करती है। इनका संयोग वेदनीय कर्मके उदयसे होता है जिससे यह अज्ञानी संसारी अपनेको सुखी दुखी माना करता है। भगवान् केवलीके मोहका सर्वथा अभाव होता है अतः उन्हें उनके द्वारा सुख दुख न होकर, उनकी सदा आनन्दरूप अवस्था बनी रहती है।

शङ्काः—जब भगवान् केवलीके लिए कोई पदार्थ इष्ट और अनिष्ट-रूप नहीं होता है तब उनके लिए वेदनीय कर्मका फल ही क्या रह जाता है?

उत्तरः—आयुकर्म शरीरकी स्थिति बनाये रखता है। नामकर्म तीर्थङ्करत्व या अरहन्त करता है। गोत्र कर्मके उदयसे परम परमेष्ठित्व होता है और वेदनीय कर्म तत् समयोचित बाह्य पदार्थोंका संयोग कराता रहता है। जब भगवान् चलते हैं तब उनके चरणोंके नीचे स्वर्ण कमलों की रचना होती रहती है परन्तु भगवान् वीतराग होनेके कारण उनका स्पर्श न करके उनके ऊपर अधर ही चलते हैं। अरहन्तोंको कोई भी प्रकारका खेद न होकर सदा अखण्ड सुख होता है। इसी बातको प्रकारान्तरसे आगे पुष्ट करते हैं—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥६१॥
णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं।
सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति ॥६२॥

ज्ञानं तु यस्य सम्पूर्णं लोकालोकावलोकनम्।
अनिष्टं नष्टमिष्टं यत्तलब्धं परमेष्ठिनः ॥६१॥
ये तस्य नहि मन्यन्ते परमं सुखमर्हतः।
गुरोर्वाचं निशाम्यापि सन्त्यभव्या हि ते पुनः ॥६२॥

नहीं अनिष्ट रहा कोई भी इष्ट प्राप्त हो गया जहाँ।
सकल चराचर जान लिया तब बोलो कौन अचंभ वहाँ॥
फिर भी अरहन्तोंको सुख कैसा ? ऐसे कहनेवाले।
भव्य नहीं, अभव्य ही होते, कहते श्रुत कहनेवाले ॥३१॥

सारांशः—सुखकी परिभाषा लौकिक और पारमार्थिक दो प्रकारसे की जाती है। परमार्थदृष्टिमें किसी भी तरहकी आकुलता (अड़चन, बाधा) न रहकर पूर्ण निराकुल अवस्थाका नाम सुख होता है। लौकिक दृष्टिमें अनिष्टके परिहार पूर्वक इष्टप्राप्तिका नाम सुख है। सर्वज्ञ भगवान् अरहंतदेवके जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्मके साथ २ अन्तराय कर्मका भी पूर्णरूपसे क्षय होजाता है तब वे भगवान् सम्पूर्ण विश्वके पदार्थोंको एकसाथ जानते हैं। वहाँ जानने योग्य कोई भी पदार्थ शेष न रह जानेके कारण गड़बड़के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता है। अतः पारमार्थिक परिभाषाके अनुसार भगवान् पूर्णरूपसे सुखी ही होते हैं।

अब लौकिक परिभाषाके अनुसार विचार करते हैं। घातिकर्म-प्रणाशक श्री अरहंत भगवान्के लिए अनिष्ट तो कोई पदार्थ रहता ही नहीं है और परमेष्ट सर्वज्ञपन प्राप्त हो ही जाता है। अतः वे परम सुखी हो जाते हैं इसमें कोई संदेह नहीं है। खाने, पीने और सोनें आदिको ही यदि सुख समझा जावे तो ऐसा सुख तो काल्पनिक एवं दुःखमय तथा कर्म परवश होता है और वह भगवान् अरहंतके नहीं होता है। ऐसा सुख तो संसार दशामें ही पाया जाता है जो समस्त संसारी जीवों के पाया जाता है। इसीको सच्चा सुख माननेवाला मनुष्य, संसारसे मुक्त होनेकी चेष्टा ही क्यों करेगा ? क्योंकि सुखीसे दुखी होना तो कोई भी नहीं चाहता है। वास्तवमें खाने, पीने और सोने आदि क्रियाओंमें सुख कभी होता ही नहीं है। इनमें तो इन्द्रियोंके परितापको नहीं सह सकनेवाला यह मोही मानव विवश होकर झंपापात लेता है, यही आगें बताते हैं—

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इन्दियेहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥
जेसिं विसयेषु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

नरासुर सुराधीशा इन्द्रियैः व्याकुलीकृताः ।
दुक्खं सोढुमशक्तास्तद्-वृत्तिं तत्रानुयान्ति ते ॥६३॥
विषयेषु समासक्तिस्तेषां दुःखमिहार्थतः ।
अन्यथा पुनरेतेषां प्रवृत्तिस्तत्र किं भवेत् ॥६४॥

अमरासुर मनुजादिक सारे इन्द्रियवश होकर हारे ।
अभीष्ट विषयोंमें फँस करके फिरते हैं मारे मारे ॥
जो विषयोंमें रति लेते हैं उन्हें दुःख नैसर्गिक है ।
वरना तो विषयोंमें वे क्यों लगते हैं यों जैन कहें ॥३२॥

सारांशः—मृग, शलभ, भौंरा, झष और हस्तीकी तरह प्रत्येक इन्द्रियके वशीभूत होनेसे मृत्यु जैसे कष्टको भी स्वीकार करते हुए यह शरीरधारी प्राणी अपने अभीष्ट विषयोंमें परिश्रम पूर्वक प्रवृत्त होता है और मोह वश उनमें सुख मानता है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाता है जिससे उसकी गलाफ फट जाती है और उसमेंसे रक्त निकलने लगता है। उस रक्तके स्वादको वह कुत्ता हड्डीका स्वाद मानता है और उससे अपने आपको सुखी भी समझता है। यही दशा सम्पूर्ण संसारी जीवों की है।

संसारी जीव सुखको विषय सेवनसे उत्पन्न हुआ मानता है। यह इसका भ्रम है क्योंकि सुख तो आत्माका गुण है जो ज्ञानका सहचर है। मोहके द्वारा संसारी जीवका ज्ञान जब अज्ञानरूप परिणत होजाता है। तब उसके साथमें अभिलाषाके द्वारा सुख भी दुखके रूपमें परिणत होजाता है। इससे अधीर होकर अज्ञानी जीव उस अभिलाषाको अभीष्ट विषयके सेवन द्वारा मिटानेका प्रयास करता है किन्तु विषय सेवनसे अभिलाषाका विनाश न होकर प्रत्युत उसका अधिकाधिक विकाश होता रहता है।

जैसे अग्निमें ईंधन डालनेसे अग्नि शान्त न होकर वृद्धिको ही प्राप्त होती है। जो मनुष्य अग्निको शांत करना चाहता है उसका यह कर्तव्य है कि वह आगेके लिए उसमें ईंधन डालना बन्द करदे और उसके निकटवर्ती तृणादिकके समूहको भी वहाँसे दूर हटा दे तो धीरे धीरे अग्नि अपने आप ही शांत हो जाती है। इसीप्रकार अभिलाषा अर्थात् विषयवासनारूप पीड़ाको मिटानेके लिए त्याग और संतोषकी आवश्यकता होती है।

शङ्काः—माना कि हानिकर चीजके त्यागमें और अनुपलब्ध वस्तुके विषयमें तो संतोष धारण करनेसे ही शांति प्राप्त होती है परन्तु समुचित आवश्यक वस्तुका तो उपयोग करने पर सुखका अनुभव होता है जैसे भूख लगने पर उचित भोजन करना पड़ता है। इसप्रकार के प्रश्नका उत्तर आगे आचार्यदेव देते हैं—

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ॥६५॥
एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६६॥

प्राप्येष्टान् विषयानक्षैः स्वस्य भावेन संतपन्।
सुखमात्मानुमात्येष न कायः सुखकारणम् ॥६५॥
नैकान्तेन सुखायैवामराणामपि विग्रहम्।
किन्त्विष्टानिष्ट योगेन सुखं वा दुःखमात्मनः ॥६६॥

समुचित विषयोंको पाकर भी देह नहीं सुख देता है।
उनके निमित्तसे संसारी सुख विकाश कर लेता है॥
देवोंका शरीर भी उनको सुखका कारण कभी नहीं।
इष्टानिष्टतया विषयोंमें सुख दुख आत्मा मान रही ॥३३॥

सारांशः—वास्तवमें आत्मा अखण्ड ज्ञानका एक अमूर्तिक पिण्ड है। बाह्य पदार्थोंसे आत्माका किसी भी तरहका हित या अहित नहीं हो सकता है। ऐसी अवस्थामें इन बाह्य पदार्थोंको आत्माके लिए लाभप्रद

या हानिकारक कैसे कहा जासकता है ? जब यह आत्मा अपने स्वरूपमें न रहकर, शरीरके साथ अहंकार ममकारमें फँसा रहता है तब शरीरके पोषक पदार्थोंको इष्ट और शरीरके लिए हानिकारक पदार्थोंको अनिष्ट मानकर, इष्ट पदार्थोंके संयोगमें अपनेको सुखी तथा अनिष्ट पदार्थों के संयोगमें अपनेको दुखी मानता है। इसप्रकार इष्टानिष्टके विकल्पमें पड़कर यह आत्मा हर समय व्याकुल बना रहता है। इस व्याकुलताका मूलाधार यह शरीर ही है। अतः इसके साथ सम्पर्क बना रहना ही इस आत्माके लिये दुःखका कारण है।

शङ्काः—नारकीय शरीर तो अवश्य दुःखका कारण है यह तो ठीक है परन्तु शरीरमात्र ही दुःखका कारण है, यह बात तो कुछ समझ में नहीं आई क्योंकि देव शरीरके प्राप्त होनेसे तो सुख ही होता है ?

उत्तरः—देवोंका शरीर भी दुःखका ही कारण है क्योंकि वह भी नारकीय शरीरकी तरह आवश्यकताओंको उत्पन्न करनेवाला है। यह बात दूसरी है कि नारकीय शरीरकी उत्पन्न हुई आवश्यकताओंके प्रतिकारका साधन वहाँ पर दुर्लभ ही नहीं किन्तु असंभव ही है। देव शरीरकी उत्पन्न हुई आवश्यकताओंके निराकरणके लिए साधन सामग्री सुलभ हुआ करती है। इसका कारण यह है कि नरकोंमें अशुभकी तथा देवोंमें (देवालयोंमें) शुभकी प्रधानता होती है।

कषायोंकी तीव्रतारूप संक्लेश परिणामका नाम अशुभ और कषायोंकी मन्दतारूप विशुद्ध परिणामका नाम शुभ है तथा निष्कषाय होनेका नाम शुद्ध दशा है। शुद्धदशामें वास्तविक इन्द्रियातीत सुख होता है और शुभदशामें इन्द्रियजन्य सांसारिक सुख होता है तथा अशुभदशामें यह आत्मा एकान्त घोर दुःखका ही अनुभव किया करता है। मतलब यह है कि बाह्य विषयोंसे सुख दुख न होकर केवल आत्म परिणामोंसे ही होते हैं, यह ही आगे उदाहरण द्वारा फिर स्पष्ट करते हैं—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६७॥

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ॥६८॥

दृष्ट्यैव चेत्तमोनाशो दीपः कुर्यात् किमत्र सः ।
सुखे किलात्मनस्तत्वे विषयैः किं प्रयोजनम् ॥६७॥
यथाकाशे स्वयं सूर्यः तेजस्वी धर्मकारकः ।
अस्ति तथैव सिद्धात्मा सहज ज्ञानवान् सुखी ॥६८॥

सुख है आत्माका गुण तो फिर विषय वहाँ क्या करते हैं ।
दीप सहारा मात्र किन्तु आंखोंसे देखा करते हैं ॥
सहजभावसे एक प्रकाशक धर्मरूप रवि होता है ।
वैसे ही सुख बोध भावका सिद्धोंमें समझौता है ॥३४॥

सारांश:—जैसे नक्तंचर विलाव वगैरह और प्रकाशधर मानवादिक सभी अपनी अपनी आँखोंसे देखते हैं। फिर भी विलाव वगैरहकी आँखोंका तेज ऐसा होता है जो रात्रिके घोर अंधकारमें भी दिनकी तरह अपने आप ही काम करता है परन्तु मनुष्यादिकी आँखोंको रात्रिमें दीपकका सहारा लेना पड़ता है, तभी वे कार्य करनेमें समर्थ होती हैं ।

इसीप्रकार संसार अवस्थामें आत्माका सुख गुण अभीष्ट विषयके सहारे पर ही अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है किन्तु सिद्धावस्थामें ऐसी वात नहीं है । वहाँ पर आत्माकी शक्तिका पूर्ण विकाश रहता है अतः सुखोपभोगके लिए इन्द्रिय विषयोंकी आवश्यकता नहीं होती है । वहाँ तो आत्माका ज्ञान गुण और सुख गुण दोनों ही अपना कार्य अखण्ड रूपमें स्वभावसे करते रहते हैं । जैसे निरावण सूर्यमें प्रकाश और आताप दोनों साथ साथ सदा दिखाई देते हैं । अशुद्ध अवस्थामें भी यह आत्मा जब अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगमें आता है उस समय यह इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहणरूप आंशिक सुखका भोक्ता बनता है, यही आगे बताते हैं—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥६९॥

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्दियं विविहं ॥७०॥

महनीय महोदान शीलोपवास लक्षणम्।
धर्मानुरागमाप्नोति सोऽयं शुभोपयोगवान् ॥६९॥
सोऽयं शुभेन संयुक्तो नृदेव पशुतामितः।
अस्मिन् संसार कान्तारे लभते सुखमैन्द्रियम् ॥७०॥

स्वार्थमयाशयसे हटकर धर्मानुरागयुत जब होवे।
शुभोपयोगात्मकताको गुरुपूजादिकमें तव जोवे ॥
शुभोपयोग सहित जो नर सुर तिर्यक् होता है भाई।
सांसारिक सुख वह पाता यह बात जिनागममें गाई ॥३५॥

सारांशः—जब यह आत्मा अनादिकालसे चली आई हुई शरीरके प्रति अहङ्कार वृत्तिरूप अशुभोपयोग परिणतिको छोड़कर शुभोपयोगी बनता है अर्थात् शरीरको ही आत्मा माननेरूप विचारधारासे दूर हटकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको स्वीकार करता है। उस समय अपने विशिष्ट शक्तिशाली आत्मसंयमी लोगोंके प्रति आदर भाव, प्राणिमात्रको लक्ष्यमें रखकर सेवाभाव, कुमार्गसे निरन्तर बचनेरूप सद्भाव और पर्वादिके समय पूजा, दान, शील और उपवास आदि शुभकार्योंमें तत्परता जागृत होती है। इससे इस नश्वर शरीरके प्रति उदासीन होकर आत्मबल प्राप्त करता है। ऐसे विचारको शुभोपयोग तथा उस विचारवालेको शुभोपयोगी कहा जाता है।

कभी कभी शरीरके प्रति दासता स्वीकार करनेवाला जीव भी उक्त शुभकार्योंमें प्रवृत्त होजाता है परन्तु वह इन सबको भी लौकिक लाभोंकी इच्छासे ही किया करता है अतः वह अशुभोपयोगी ही कहा जाता है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये मूल ग्रन्थकारने 'रत्तो' शब्द दिया है। ग्रन्थकारका कहना है कि सांसारिक विषय वासनाके लिए नहीं किन्तु आत्मोत्थानके लिए बलदायक समझकर उपर्युक्त कार्योंको तात्कालिक कर्तव्य मानते हुए जो उनका सम्पादन करता है, ऐसा चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती जीव ही शुभोपयोगी कहा जाता है। ऐसा ही टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

"यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिकामतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूतां शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत ।"

यह शुभोपयोगी जीव जब शुभ दैवबलयुक्त एवं शुभ लेश्याबलयुक्त होता है उस समय इन्द्रिय सुखका अनुभव करनेवाला होता है। यदि शुभ लेश्याका और शुभ कर्मोदयका अभाव हो तो ऐसी दशामें बद्धायुष्कतादिके कारण शुभोपयोगी (सम्यक्दृष्टि) जीव भी नारकी बनकर नरकमें मारण ताडनादिरूप घोर दुःखको ही भोगनेवाला हो जाता है।

अशुभोपयोगी (मिथ्यादृष्टि) जीव बाह्य समुचित सामग्री होने पर भी उसके द्वारा सदा दुःखका ही अनुभव किया करता है। जैसे पित्तज्वरवाला मनुष्य दूधमें भी कड़वापन ही मानता है। इसप्रकार शुभोपयोगी और अशुभोपयोगीमें परस्पर किंचित् विशेषता है। लौकिक दृष्टिमें शुभोपयोगी सुखी और अशुभोपयोगी दुःखी होता है किन्तु पारमार्थिक दृष्टिमें दोनों ही परतंत्रतासे जकड़े हुए होते हैं अतः दोनों ही दुखी हैं, ऐसा ही आगे बताते हैं—

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥७१॥
णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं ।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ॥७२॥

किं तदास्ति सुरेन्द्राणा—मपीह सहजं सुखम् ।
हर्तुमर्तिममी किन्तु विलगन्तीष्ट वस्तुषु ॥७१॥
नराश्च नारका देवा—स्तिर्यञ्चोऽप्यकमङ्गजं ।
यान्ति वस्तुतया तत्र का शुभाशुभता पुनः ॥७२॥

औरोंकी क्या बात शक्रको भी न सहज सुख होता है।
शारीरिक वेदनार्त वह विषयोंमें लेता गोता है॥
नारककी तरह पशु मनुज सुरको भी दुःख तनुज है।
तो फिर शुभ अशुभोपयोगमें ज्ञानी कैसा भेदक है॥३६॥

सारांशः—लौकिक दृष्टिसे नारकियोंको दुख और देवोंको सुख होता है। देवोंमें भी प्रधानता इन्द्रोंकी है। जो निश्चितरूपसे शुभोपयोगी होते हैं। जब हम इनके विषयमें भी विचार करते हैं तो बात कुछ और ही पाते हैं। भूख प्यास आदिकी वेदना जैसी नारकियोंके होती है वैसी ही इन्द्रोंके भी होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि नारकियोंके पास उसे मिटानेका कोई बाह्य साधन नहीं होता है और इन्द्रोंके पास होता है।

यह बात तो ऐसी ही हुई कि जैसे दो मनुष्योंको शीतज्वरका वेग आया। इनमेंसे एकको तो रजाई और कम्बल मिल गये, उन्हें ओढ़कर वह सो गया परन्तु दूसरेके पास कुछ भी न होनेसे वह, बिना ओढे ही अपने स्थान पर पड़ा रहा। ऊपरसे देखनेमें तो उन दोनोंमें अन्तर दीख रहा है। एक ओढे हुए है और दूसरेके पास ओढनेको कुछ भी नहीं है परन्तु भीतरसे दोनोंको जाड़ा (सर्दी) सता रहा है। दोनों ही भीतरी ठण्डकसे काँप रहे हैं। दोनों ही शीतज्वरके रोगी हैं। रोगके वेगसे पीड़ित हैं।

इसीप्रकार देव और नारकी दोनों ही दुखी होते हैं। बाह्यमें एकके पास भोग सामग्री है और दूसरेके पास नहीं है फिर भी उनके दुःखमें कोई मौलिक अन्तर नहीं होता है। नीरोगपनकी तरह जो मनुष्य अपने अंतरंगमें सहज स्वभावके मूल्यको आँक रहा है उसके लिए दोनों एक समान हैं। दोनों ही अपनेपनसे दूर होकर विकारग्रस्त होरहे हैं। वस्तुतः दोनों ही दुःखी हैं। नारकी जीवको जिस शरीरमें रहकर दुःख का अनुभव करना पड़ता है वह उस शरीरका शोषण करना चाहता है और इन्द्र उसीका पोषण करना चाहता है। विवेकशील महात्माकी दृष्टिमें नारकीय जीवन तो उपवासकी तरह और स्वर्गीय जीवन भोजन की तरह प्रतीत होता है, यही आगे स्पष्ट करके बताते हैं—

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७३॥

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ।। ७४ ।।

शक्रचक्रधरादीनां भोगैश्च तनुपोषणम् ।
जलौकसामिवोच्छिन्न- रक्तपानैर्विपत्तये ।।७३।।
अस्थायीनि हि पुण्यानि विविधानि दिवौकसाम् ।
तेषामपि प्रकीर्त्यन्ते भृशं तृष्णाभिवृद्धये ।।७४।।

शक्रचक्रधरके यथेष्ट भोगोंसे भी तनुपोषण ही ।
होकर होता है दुनियामें जीवभावका शोषण ही ।
देवादिकका पुण्योदय भी परिणमनात्मक होता है ।
इसीलिये विषयाभिलाष पैदा करके सुख खोता है ।।३७।।

सारांश—जोंक किसीके भी दूषित रक्तको पिया करती है और उससे वह पुष्ट हुई सी प्रतीत होती है परन्तु परिणाम यह होता है कि यदि वह अल्प समय तक भी उसे पिये हुए रह जाय तो प्राणान्तकारक कष्ट उठाती है । ऐसे ही शक्र चक्रधरादिक विशिष्ट पुण्यशाली पुरुष भी अपने प्राप्त भोगों द्वारा शरीर और इन्द्रियोंको संतुष्ट करते हैं और अपने आपको सुखी मानते हैं परन्तु फल उनको विपरीत ही मिलता है । अन्तमें पश्चात्ताप ही उनके लिए शेष रह जाता है क्योंकि बड़ेसे बड़े पुण्यका भी अन्त अवश्य होता है । वह सदा बना रहनेवाला नहीं होता है, नाशमान् होता है । एवं उसमें बीच बीचमें भी अनेक तरहके उतार चढाव आते रहते हैं जिससे वह अपने साथ शोक सन्तापको लिये हुए तृष्णाभिवृद्धिका ही कारण हुआ करता है । इस पर ऐसा कहा जा सकता है कि परिणाममें भले ही दुःख हो परन्तु तत्काल तो विषय भोग में सुख होता है या नहीं ? इसका उत्तर आगे देते हैं—

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।
इच्छन्ति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ।।७५।।
सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इन्दियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ।।७६।।

आमृत्यु दुःखसंतप्ता आशापाशवशीकृताः ।
इच्छन्ति विषयांस्तृष्णा–क्रान्तास्तेऽनुलगन्ति च ॥७५॥
सबाधं यत् परापेक्षं विच्छेद सहितं तथा ।
पापार्जकं च विषमं दुःखमेवाक्षजं सुखम् ॥७६॥

तृष्णाके वश दुःखी होकर ही तो विषयोंको सेवे ।
संसारी जन जैसे आतुर होवे वह औषध लेवे ॥
पराधीन विच्छेदपूर्ण बाधायुत पापबीज भी है ।
अतः विषम इन्द्रियसुख ऐसी चर्चा ऋषियोंने की है ॥३८॥

सारांशः—आचार्य कहते हैं कि इन्द्रियजन्य सुख परपदार्थके संयोगसे होनेवाला है और पुण्यकर्मके उदयकी अपेक्षा रखता है अतः बाधा सहित भी है। पर पदार्थ (समुचित विषय) अनुकूल हो और पुण्यका उदय भी हो परन्तु उचित व्यवस्थाका अभाव हो तो भी सांसारिक सुखमें बाधा उत्पन्न हो जाती है। जैसे एक स्वस्थ मनुष्यको स्त्रीप्रसंगकी वासना है। स्त्री भी पासमें खड़ी है और वह भी प्रसंग करना चाहती है परन्तु वहीं पर गुरुजन या सखियाँ खड़ी हुई देख रही हों तो अभीप्सित कार्य नहीं हो सकता है, वहाँ बाधा उत्पन्न हो जाती है।

इसीप्रकार विषय सुख विच्छेदयुक्त भी होता है तथा विषय सुख को यदि तत्परतासे भोगा जाय तो आगामी कालके लिये वह पापबंधका भी कारण होता है और विषम होता है। अपने कालमें भी निरन्तर एकरूपमें नहीं रहता है। जैसे एक मनुष्य भोजन कर रहा है। उसको दालका कुछ और ही स्वाद आता है और भातका कुछ और ही आता है तथा उनके साथमें खाये जानेवाले शाकपातका कुछ और ही स्वाद आता है। इन सब बातोंसे विषय सुख उत्तरोत्तर तृष्णाको बढ़ानेवाला होता है अतः विषमिश्रित मिष्टान्न भक्षणकी तरह हेय ही है।

विषमिश्रित मिष्टान्न खानेमें मीठा अवश्य लगता है परन्तु वह साथमें दाह भी उत्पन्न करता है। ऐसे ही विषय सेवनमें इस जीवको

आनन्दका अनुभव होता है परन्तु साथ ही वह तृष्णाको बढ़ानेवाला भी होता है। अतः विषय सेवन तत्कालमें भी आचार्योंके कथनमें दुःखरूप ही होता है। दुःख तो दुःख है ही किन्तु विषयसुख भी दुःख ही है। जब ऐसा सिद्धांत सिद्ध हो गया तब पुण्य और पापमें भी क्या भेद रहा ? ऐसा समझकर पापकी तरह पुण्यसे भी जब तक पार नहीं हो जाता है तबतक संसार बना ही रहता है। यही आगे बताते हैं—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥
एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥७८॥

पापवत् पुण्यतोऽपीदं मनो नहि विरज्यते।
तावत् संसार एवायं जनो मोहेन तिष्ठति ॥७७॥
यस्तु विदिततत्वार्थो न क्वचिद् द्वेष्टि तुष्यति।
स विशुद्धोपयोगी सन् भवदुःखं विनाशयेत् ॥७८॥

जो कि पापसे दुःख पुण्यसे सुख ऐसे विचारयुत है।
तव तक मोह ममत्व सहित होनेसे संसारमें रहे ॥
वस्तुरूप अनुभावक तो परचीजोंमें समतायुत हो।
शुद्धोपयोगमय देहज दुःखोंसे होकर दूर रहो ॥३९॥

सारांशः—चोरी व्यभिचार आदि पापकार्योंके करनेसे इस जीवको दुःख भोगना पड़ता है किन्तु यज्ञानुष्ठान दान आदि पुण्यकर्मोंके करनेसे सुख मिलता है। इसप्रकार पाप और पुण्यमें भेद स्वीकार करनेवाला मानव यद्यपि पापकार्योंसे बचकर रह सकता है किन्तु पुण्यकार्योंके प्रति रहनेवाले मोहसे मुक्त होनेका उसके पास कोई मार्ग ही नहीं होता है। अतः वह संसारसे कभी पार ही नहीं हो सकता है।

जो मनुष्य तत्त्वदृष्टि बन चुका है, जिसने यह समझ लिया है कि मेरी आत्मा वास्तवमें सच्चिदानन्द स्वरूप और अमूर्तिक है, उसका इन बाह्य पदार्थोंसे कुछ भी हितहित नहीं है। इसलिये इनको इष्ट और

अनिष्ट मानकर व्यर्थकी उलझनमें वह नहीं फँसता है। वह पापकार्योंको बुरे मानकर उनसे द्वेष नहीं करता है और अपने आपके लिए निस्सार समझकर उन्हें स्वीकार भी नहीं करता है। उनसे सदा दूर ही रहता है। इसीतरह पुण्यकार्योंको भी अच्छे मानकर उनमें तल्लीन नहीं होता है अपितु उदास रहनेका प्रयास करता है। ऐसा जीव अपने उपयोगको निर्मलसे निर्मल बनाता हुआ अन्तमें किसी एक दिन जन्म मरणके दुःख से रहित हो जाता है।

शङ्काः—क्या पापकार्योंको बुरे मानकर उन्हें छोड़ना और पुण्य-कार्योंको कर्तव्य मानकर उन्हें तत्परताके साथ करना ठीक नहीं है? यदि ऐसा ही है तो फिर अनेक महान् आचार्योंने स्थान स्थान पर पाप-कार्योंको बुरे एवं दुखदायक बताकर उन्हें छोड़नेकी तथा पुण्यकार्योंको अच्छे और सुखदायक बताकर उन्हें करनेकी प्रेरणा क्यों की है? श्री उमास्वामी आचार्यने अपने तत्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें लिखा है कि 'हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥ दुःखमेव वा ॥१०॥ मैत्रीप्रमोद-कारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥ ११ ॥ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं ॥३८॥ इत्यादि।

इसके उत्तरमें आचार्य श्री लिखते हैं—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥
जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

अशुभादिङ्गितात् विभ्यच्छुभ एवावतिष्ठते।
स मोही शुद्धमात्मानं कर्तुं कदापि नार्हति ॥७९॥
द्रव्यत्वेन गुणत्वेन पर्ययत्वेन चार्हतः।
यो निश्चयः स एवास्तु मोहहाऽऽत्मविनिश्चयः ॥८०॥

पापारम्भ रहित होकर भी शुभचरित्रमें ही रत हो।
वह भी मोहमहिमका धारी सहजभावसे दूर अहो॥
द्रव्य और गुणपर्यायतया जिसने जिनको जान लिया।
जान लिया उसने आत्माको क्योंकि मोहका नाश किया॥४०॥

सारांशः—आचार्य कहते हैं कि पापकार्यको अकर्त्तव्य मानकर उसे छोड़ना, हेय बताना और पुण्यकार्यको कर्तव्य जानकर उसे करना, उसको विधेय बताना यहाँ तककी बात तो ठीक है। इन दोनोंके अतिरिक्त एक तीसरी बात भी है जिसे ध्येय या लक्ष्य कहते हैं। इसीको दृष्टिमें रखते हुए ही कर्त्तव्य किया जाता है। यह विधेय है, इसके बिना तो सब ही निरर्थक है।

जैसे श्री सम्मेदशिखर पर्वतकी वन्दना करनेके लिए रेलगाड़ीमें बैठकर जिसको पारसनाथ स्टेशन पर जाना है वह मनुष्य अपने ग्रामसे पांच कोश पैदल चलकर देहलीके स्टेशन पर आया। वह वहाँ देखता है कि अभी गाड़ीके आनेमें आधे घंटेकी देर है। अब वह यदि सोचने लगे कि गाड़ी तो है ही नहीं, अतः वापिस घरको ही लौट चलो। ऐसा सोचना और करना उसके लिए ठीक नहीं है, अकर्तव्य है, हेय है, बुरी बात है। उसको अपने ध्येयसे भ्रष्ट करके उससे बिलकुल दूर होनेकी बात है। उसका कर्तव्य है कि वह आधे घण्टेके लिए वहीं विश्रामगृहमें ठहरे जिससे गाड़ी आने पर उसमें बैठ सके और सफल मनोरथ हो सके। उतनी देर वहाँ ठहरना और गाड़ीकी प्रतीक्षा करना उसका कर्त्तव्य है। वहाँ ठहर करके भी यदि वह निश्चिन्त हो जावे, गाड़ीके आने और स्टेशनको पारकर चले जाने तक भी ध्यान न दे तो ऐसी दशामें उसका वहाँ ठहरना भी व्यर्थ हो जाता है।

इसीप्रकार अनात्मभावसे हटकर आत्मभावको प्राप्त करनेवाले व्यक्तिके लिए समाश्वासनके रूपमें शुभभावका स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। अशुभभावसे शुभभाव पर आये विना शुद्धभावपर नहीं पहुंचा जा सकता है। जैसे मलिन वस्त्रके साबुन या खार लगाकर पानीसे धोये विना उसे स्वच्छ नहीं किया जा सकता है। जहाँ शुद्ध-

भावको बिलकुल भी लक्ष्यमें न रखकर केवल मात्र शुभभावको ही स्वीकार किया जा रहा हो तो वह तो ऐसा ही हुआ जैसे कि कपड़ा मैला तो हो ही रहा था उस पर खार मिट्टी और लगादी गई। खार मिट्टी लगाकर रख देने मात्रसे कपड़ा स्वच्छ हो सकेगा क्या? कभी नहीं।

ऐसे ही जो मनुष्य शुभभावको ही पर्याप्त समझ रहा है, वह शुद्धताको कैसे प्राप्त हो सकता है? वह तो अपने विचारके अनुसार सदा अशुद्ध ही बना रहेगा। उसके शुभ भाव और अशुभभावमें कोई खास अन्तर नहीं होता है, यह बात ठीक ही है। इसप्रकार कह करके स्याद्वाद सिद्धान्तके पारगामी आचार्य महाराज अब उपर्युक्त दृष्टिकोणसे भिन्न दृष्टिकोणको स्वीकार करते हुए फिर कहते हैं।

शुभ और अशुभभावमें यदि विशेषता लानी हो तो श्री अरहन्त भगवानकी शरण ग्रहण करनी होगी। ये अशुभकी तरहसे शुभभावका भी त्याग करके स्वयं शुद्धभावको प्राप्त कर चुके हैं एवं औरोंके लिए भी उसका उपदेश दे रहे हैं। ऐसे अरहन्तोंको आदर्श मानकर उनका गुणानुवाद गाने वाले महाशयके अन्तस्तलमें यह विश्वास होना अवश्यंभावी है कि जिसप्रकार अरहन्तोंने अपने आपको अशुभ और शुभसे शुद्ध करके बताया है उसीप्रकारका प्रयत्न यदि मैं भी करूं तो अपनी आत्मामें विकाररूपसे उत्पन्न होनेवाले रागादि भावोंको धीरे धीरे अभ्यासके बलसे घटाते हुए अन्तमें इनका सर्वथा अभाव कर सकता हूँ।

अपने आपको स्पष्टरूपसे शुद्ध सच्चिदानन्दमय बना सकता हूँ क्योंकि आत्मत्वकी अपेक्षा जैसी आत्मा उनकी है वैसी ही मेरी है। इसप्रकार अरहन्तोंको जानना, मानना और उनका गुणानुवाद करना प्रकारान्तरसे अपने आत्म तत्वको ही जानना, मानना एवं गुणानुवाद करना है। अरहन्तोंके प्रति वास्तविक अनुराग रखनेवाले व्यक्तिकी आत्मतत्वकी भूल दूर हो जाती है जिससे अब इसका शुभभाव उपर्युक्त शुभभावसे भिन्न जातिका हो जाता है। अपने उत्तरकालमें शुद्धता विधायक होनेसे वास्तविक शुभोपयोग होता है। यही आगे बताते हैं—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥
सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

प्रणष्टमोहो पश्चासौ सम्यगात्मत्वमाप्तवान् ।
रागदोषौ यदा हन्ति याति शुद्धत्वमात्मनः ॥८१॥
अनेनैव विधानेन हत्वाऽर्हन्तो विधीनहो ।
सर्वेऽपि निर्वृताः कृत्वा देशनां तान्नमाम्यहं ॥८२॥

आत्मभावमें रुचि लेता है मोहरहित जो होता है ।
फिर रागद्वेष रहित होकर समरसमें लेता गोता है ॥
नमस्कार उन अरहन्तोंको यों जिनने रागादि हरे ।
दे उपदेश भव्यजीवोंको भवसमुद्रसे आप तरे ॥४१॥

सारांशः—वस्तुतत्वको अन्यथा माननेरूप मोहभाव जब इस आत्माका दूर होजाता है तब अपने पुरातन संस्कारानुसार भले ही वह वर्तमानमें अपने लिये अपने कर्तव्यकार्यमें किसीको साधक और किसीको बाधक मानकर उन पर राग द्वेष करता हो तथापि वह ऐसे करनेको यथार्थमें अनुचित मानकर, उस पर भी विजय प्राप्त करके वीतराग बनना चाहता है । अतः वह अन्तरात्मा तथा शुभोपयोगी कहलाता है ।

यही अन्तरात्मा जब पूर्ण वीतराग बनकर शुद्धोपयोगी होता हुआ केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है तब परमात्मा बन जाता है । जो पहिले संसारावस्थामें आत्माको शरीररूप ही माननेके कारण बहिरात्मा तथा अशुभोपयोगी बना हुआ था । मतलब यह है कि अवस्थाभेदसे आत्मा अशुभ, शुभ तथा शुद्ध अर्थात् बुरी, अच्छी और इन दोनोंसे भी भिन्न (न अच्छी और न बुरी) स्वभावमय ऐसे तीन तरहका होता है ।

शङ्काः—जैन शास्त्रोंमें स्थान स्थान पर वर्णन है कि संसारके पदार्थ न अच्छे हैं और न बुरे हैं और शास्त्रकारोंका ही यह विधान है कि न कोई आत्मा अच्छा है और न कोई बुरा ?

उत्तरः—शास्त्रकारोंका कहना है कि संसारका कोई भी पदार्थ न तो आत्माका निश्चित रूपसे हित ही करनेवाला है और न अहित करने वाला है। अतः न तो कोई पदार्थ वास्तवमें इसके लिए अच्छा ही है और न बुरा ही किन्तु आत्मा स्वयं ही अपने लिए अच्छा और बुरा होता है।

जो आत्मा सत्ता (सज्जनता) सत्प्रवृत्ति, समता एकताको स्वीकार करता है वह शुभ कहलाता है और जो असत्ता (दुर्जनता) असद्वृत्ति ममता या भेदभावसे ग्रस्त है वह अशुभ कहा जाता है। अशुभ त्याज्य है और शुभ ग्राह्य है।

शङ्काः—ग्राह्य तो शुद्धको कहना चाहिये। शुभ भी अशुभकी तरह त्याज्य ही है क्योंकि आत्मा जैसे अशुभका त्याग करके शुभको स्वीकार करता है वैसे ही शुभका भी त्याग करके अन्तमें शुद्ध बन जाता है।

उत्तरः—अशुभका प्रध्वंसाभाव शुभ है। शुभका प्रध्वंसाभाव शुद्ध है। यह बात तो ठीक है। "चारित्रमोहके साथ दर्शनमोहका भी होना अशुभोपयोग है किन्तु दर्शनमोह दूर होकर चारित्रमोहका रहना शुभोपयोग है और चारित्रमोहका भी अभाव हो जाना शुद्धोपयोग है।" अशुभ और शुभ ये दोनों तो, कृत्य तत्परतामय होते हैं किन्तु शुद्ध कृत्याभावरूप, कृतकृत्यतामय होता है, इतना इनमें भेद है।

अशुभोपयोग दशामें यह जीव चोरी करना, झूठ बोलना आदि हानिकर कार्योंको ही लाभदायक समझकर उन्हींके करनेमें लगा रहता है परन्तु शुभोपयोग होने पर उन्हें हानिकर समझकर छोड़ देता है और सम्मान, दान, सत्यसम्भाषण आदिको प्रयत्नपूर्वक करने लगता है। इन सबको पूर्णरूपसे कर चुकना ही शुद्धोपयोग कहलाता है।

अशुभकार्य तो प्रयत्नपूर्वक छोड़े जाते हैं परन्तु शुभकार्य छोड़े नहीं जाते हैं, वे तो शुद्धोपयोग होनेपर स्वयं ही छूट जाते हैं। जैसे एक हृदयकी कमजोरीवाले रोगीके सम्मुख शोक सन्तापकी बातें छेड़दी गई,

उनमें उलझ जानेसे रोगीको रातमें भी नींद न आकर व्याकुलता होने लगी। तब वैद्यने कहा कि इसके आगे ऐसी बुरी बातें करना छोड़ दो और कुछ ऐसी अच्छी बातें करो जिससे इसे आनन्द मिले। तब हास्य विनोदकी बातें की जाने लगीं, जिन्हें वह ध्यानपूर्वक सुनने लगा। उनसे मन प्रसन्न होजानेके कारण उसे नींद आ गई जिससे उसकी हास्य-विनोदकी बातें भी छूट गईं।

इसीप्रकार अशुभोपयोग तो संक्लेशरूप होनेसे त्याज्य होता है और प्रसक्तिकारक होनेसे शुभोपयोग ग्राह्य होता है किन्तु शुद्धोपयोग स्वयं प्रसादरूप होनेसे निर्वर्त्य माना गया है। यही बात मूल ग्रंथकारके कथनसे भी स्पष्ट है क्योंकि ग्रंथकार अपनी ८२वीं गाथामें शुद्धोपयोग सम्पत्तिवाले अरहंतोंको गौरवके साथ नमस्कार करनेमें प्रवृत्त हैं, जिससे वे अपने अंतरंगमें प्रस्फुट होनेवाले शुभोपयोगका परिचय दे रहे हैं। एवं हम लोगोंको भी प्रेरणा दे रहे हैं कि तुम भी श्री अरहंत भगवानके उपदेशको स्वीकार करो जिससे अपने मोहभावको मिटाकर शुभोपयोगी बन सको क्योंकि मोही जीव एकान्तरूपसे परपदार्थोंको ही इष्ट और अनिष्ट मानकर क्षुब्ध बना रहता है। रागद्वेषको दूर नहीं कर सकता अतः वह कर्मबंधसे बच नहीं सकता। ऐसा ही आगे लिखा जारहा है—

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥
मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥८४॥

परस्मिन् स्व इतीदृक्षः प्रभावो मोह इत्यतः।
आप्त्वा रागं च रोषं च क्षोभमेति शरीरवान् ॥८३॥
मोहेन रागरोषाभ्यां-मस्यपरिणतस्य च।
यतोऽस्ति कर्मसंबंधः प्रहातव्या अमी ततः ॥८४॥

मोही जीव आपको परमय माना करता है इससे।
हो विक्षुब्ध राग रोप किया करता मूढ अहो परसे ॥
मोह राग-या रोपभावमय होकर नाना कर्म करे।
जीव जो कि इनसे दूर रहे वह मुक्तिरमा त्वरित वरे ॥४२॥

इस पर प्रश्न होता है कि इस दृश्यमान सम्पूर्ण अनर्थका मूल कारण एक मोहभाव है, तो इसके पहिचाननेका क्या उपाय है? इसका उत्तर आगे देते हैं—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु च पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८५॥
जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥८६॥

नरतिर्यक्षु तु क्रौर्य – मयथार्थ समादरः।
मोहचिह्नानि भोगेषु किलात्यन्त प्रसङ्गिता ॥८५॥
प्रत्यक्षादि विदावस्तु जिनशास्त्रानुसारतः।
बुभुत्सोर्मोह हानिर्हि श्रोतव्यं तत्ततोऽङ्गिभिः ॥८६॥

तत्वोंका अयथार्थ समादर नर-पशुओं पर निर्दयता।
भोगोंमें आसक्तिभाव भी जहाँ मोहकी समर्थता ॥
जिनशासनके पढ़नेसे गुणपर्यययुत तत्वार्थमति।
होकर मोहनाश हो ऐसे शास्त्र पठनकी सुसङ्गति ॥४३॥

सारांशः—जो वस्तुके स्वरूपको ठीक तरहसे न समझकर औरका और ही समझता हो, मनुष्य और तिर्यंचों पर निर्दयता रखता हो, विना मतलब ही उन्हें कष्ट देनेमें तत्पर रहता हो, कफमें फँसी हुई मक्खीकी तरह विषय भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति रखता हो, वह मोही जीव होता है, ऐसा समझना चाहिये। उक्त तीनों बातें मोहकी पहिचान हैं। यदि इन तीनोंमेंसे एक भी हो तो वहाँ मोह (मिथ्यात्व) का होना अवश्यंभावी है और तीनों ही हों तब तो कहना ही क्या है? अतः मोहको दूर करनेका उपाय करना चाहिए। इसके लिए निरन्तर जैनागमका अभ्यास करना चाहिए, यही एक उसका समुचित उपाय है।

(१) तत्वकी अन्यथा प्रतिपत्ति तो मिथ्यात्वका, नर पशुओं पर करुणाका न होना, द्वेषका और विषयोंमें आसक्तिका होना, रागका चिह्न है। ये सब तीनों, मोहके चिह्न हैं। ऐसा अर्थ भी इस गाथा नं० ८५का किया जा सकता है किन्तु करुणाका होना, मोहका चिह्न है ऐसा अर्थ तो किसी भी तरह समझमें नहीं आता है क्योंकि स्वयं कुन्दकुन्द स्वामीने ही करुणाको 'धम्मो दयाविशुद्धो' आदि बोधपाहुडकी गाथा नं० २५ आदिमें धर्म बताया है।

यहाँ पर मूल ग्रंथकारने मोह होनेका दूसरा चिह्न "करुणाभावो य तिरियमणुएसु" बताया है। इसका अर्थ अमृतचन्द्राचार्य कृत टीकामें 'तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्धि' अर्थात् पशु और मनुष्यों पर भी दयाबुद्धिका होना, मोह (मिथ्यात्व)के सद्भावका दूसरा चिह्न है, ऐसा लिखा है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य एवं पशुओं पर दया करनेवाला जीव मोही मिथ्यादृष्टि घोर पापी बहिरात्मा होता है। यह ऐसा अर्थ सम्पूर्ण जैनागमके विरुद्ध पड़ता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य जैसे मान्य विद्वान्की की हुई टीकामें यह अर्थ कैसे है? स्वयं टीकाकारके ही लेखन प्रमादसे ऐसा अर्थ हुआ है या उनके बादके किसी लेखक महाशयकी कृपासे ऐसा होगया है, यह हम नहीं कह सकते हैं। ऐसा अर्थ श्री अमृतचन्द्राचार्यके बहुत समयके बादमें होनेवाले तात्पर्यवृत्तिकार श्री जयसेनस्वामीजी को भी अवश्य खटका है। इसीलिए उन्होंने अपनी कलमसे 'करुणाभावो'का अर्थ शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षासंयमाद्विपरीतः करुणाभावोदयापरिणामोऽथवा व्यवहारेण करुणाया अभावश्च' इसप्रकार लिखा है।

जयसेनाचार्यजी कहते हैं कि निश्चयनयसे तो दया करना ही उपेक्षा संयमसे विपरीत होनेके कारण मोहका चिह्न है। व्यवहारनयसे देखा जावे तो दयाका न करना ही मोहका चिह्न है। इसप्रकार लिख कर सङ्गति बिठानेकी चेष्टा की है, फिर भी इसमें सफल नहीं होसके हैं क्योंकि यहाँ मोह शब्दसे दर्शनमोहको ही लिया गया है। दयालुता

दर्शनमोहका लक्षण कभी भी नहीं माना जासकता है। आंशिक चारित्र-मोहका लक्षण कहा जा सकता है।

यदि यह कहा जावे कि निश्चयनयमें चारित्रमोह और दर्शनमोह भिन्न भिन्न कहाँ हैं? जब भिन्न भिन्न नहीं हैं तो चारित्रमोहका लक्षण ही दर्शनमोहका लक्षण है इसलिये ऐसा कहना भी नहीं बन सकता है क्योंकि यहाँ ग्रन्थकारने दर्शनमोह (मिथ्यात्व) और चारित्रमोह (राग द्वेष)को स्पष्टरूपसे भिन्न भिन्न बताया है। अतः यह मानना चाहिए कि ग्रंथकर्ताका यह सब वर्णन व्यवहारनयको लेकर ही है। इसीका समर्थन ग्रंथकारकी आगेवाली ८६वीं गाथासे और भी स्पष्टरूपमें मिल रहा है। अतः करुणाभावका अर्थ निर्दयता (क्रूरता) लेना ही ठीक है। ग्रंथकार कहते हैं कि जिसप्रकार विपरीताभिनिवेश, मिथ्यादर्शनके सद्भावको बतलाता है वैसे ही क्रूरता (संकल्पी हिंसा, शिकार खेलना, मांस खाना आदि) भी मिथ्यादर्शनके बिना नहीं हो सकती है।

शङ्काः—करुणाके अभावको मिथ्यादर्शनका चिह्न (लक्षण) कहने पर वीतरागियोंके मिथ्यादर्शन होनेका प्रसंग आजाता है क्योंकि वहाँ करुणा (दयारूप परिणाम)का अभाव है।

उत्तरः—'दुःख प्रतिकरण लक्षणं कारुण्यं' अर्थात् होते हुए दुःखको न होने देना, उसे हटा देना ही कारुण्य है। ऐसी दशामें वीतरागियोंकी आत्मामें कारुण्यका सद्भाव नहीं है, यह बात ही गलत है क्योंकि वीतरागियोंने अपनी आत्मामें होनेवाले दुःखका तो मूलोच्छेद ही कर दिया है। एवं औरोंके भी दुःखको हटानेके लिए भी वे परमादर्श बने हुए हैं, ऐसा समझना चाहिये। अस्तु। आगे जैन शास्त्रोंका अध्ययन करनेवालेका मोह, क्यों और कैसे दूर होजाता है इसका समर्थन करते हैं—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥८७॥
जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥८८॥

गुणश्च पर्ययो द्रव्य-मर्था एते त्रयः सदा ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं भवतीत्युपदेशतः ॥८७॥
जैनशास्त्रमधीयानो मोहं रागरुषावपि ।
हत्वा मुक्तिमवाप्नोति शीघ्रं संसारतोऽमुतः ॥८८॥

जनागममें है पदार्थका यथार्थ वर्णन किया गया ।
गुणमय वस्तु और पर्ययमय गुण यों तत्पन लिया गया ॥
जो नर अरहन्तोपदेश पाकरके तात्विक भावसने ।
मोहरागरोष प्रणाशकर शीघ्रतया वह शांत वने ॥४४॥

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥
तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥९०॥

तत्रोदितं चेतना वा नात्माऽन्यन्निखिलं जडम् ।
निश्चिन्वन्निदमाप्नोति मोहनाशं न संशयः ॥८९॥
आत्मानं च परं जैना-दागमात्स्वस्वरूपतः ।
स्थितं समभिजानीया – च्चेदमोहत्वमिच्छति ॥९०॥

है निजदेह प्रमाण आत्मद्रव्य चेतनायुक्त अहा ।
इतर द्रव्य अचेतन ऐसे समझे मोहाभाव कहा ॥
जो निर्मोही होना चाहे जैनागमसे ठीक करे ।
अतः ज्ञानयुत जीव और जड़ देहादिक जगके सगरे ॥४५॥

सारांशः—जैनागममें बताया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय ये तीनों ही जानने योग्य हैं । इनमें परस्पर तादात्म्य नामक अभिन्नभाव सम्बन्ध बना हुआ है । गुणोंको कभी भी नहीं छोड़नेवाला द्रव्य होता है । गुणोंमें विकार (परिणमन) होते रहनेका नाम पर्याय है । हर एक द्रव्य अपने अपने गुणोंको सदा अपने साथमें रखते हुए परस्पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे भिन्न होता है । आत्मद्रव्य अपने अन्य गुणोंके साथ साथ चेतना गुणवाला है । शेष सब द्रव्य चेतना रहित (जड़) होते हैं ।

आत्मा समुद्घातके सिवाय इतर समयमें अपने प्राप्त हुए शरीरप्रमाण रहनेवाला है।

इसप्रकारका जैनागम विहित पदार्थोंका स्वरूप युक्ति और अनुभव के द्वारा भी विचार करने पर सही सिद्ध होता है। अतः जो मनुष्य अपने विश्वासको जैनागमके अनुकूल बना लेता है, वह भूलरहित हो जाता है। जो सुमार्गमें लगना चाहता हो उसे चाहिए कि वह जैनागम का अभ्यास करे। अन्यथा वह गृहस्थ ही क्या किन्तु साधु सन्यासी बन करके भी धर्मात्मा नहीं होसकता है। ऐसा आगेकी गाथामें बताते हैं—

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥६१॥
जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥६२॥

अस्ति नास्ति युतानर्थान् श्रद्धाति न यो जनः।
श्रामण्यमपि सम्प्राप्तो न धर्मात्मत्वमश्नुते ॥९१॥
यथार्थदृष्टिर्वैराग्यं गत आगमपारगः।
महात्मा धर्मसम्पत्ति – मुपैति भवनाशिनीम् ॥९२॥

जो सामान्य विशेषरूप इन चीजोंको नहिं पहिचाने।
परिव्रजित होकरके भी वह नहीं धर्म मनमें आने॥
समाश्वासंयुत आगमवेत्ता वीतराग चारित्र धरे।
अपितु वास्तविक धर्मयुत महात्मा समर्थ वह मुक्ति वरे ॥४६॥

सारांशः—जो किसी कारण विशेष (सन्मानादि प्राप्त करनेकी इच्छा वगैरह)से गृहस्थाश्रमका त्याग करके यदि साधु भी बन गया हो परन्तु जिसके मनमें कथञ्चित् अस्तिनास्ति स्वरूप सामान्य विशेषात्मक पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका विश्वास (श्रद्धान) न होसका हो तो वह धर्मात्मा कहलानेका अधिकारी नहीं है। उसका वह वेश तो बहुरूपिया के स्वाङ्गके समान है। इस दशामें भी यदि वह काललब्धिके योगसे तत्वार्थ श्रद्धान प्राप्त करले तो फिर उससे शत्रु मित्र, तृण कंचन एवं

सांसारिक सुख दुःखमें समताभावरूप वास्तविक वैराग्य पर आ सकता है एवं चित्तकी स्थिरताके द्वारा आगमका पारगामी बनकर वह बाहर की सब बातोंसे विमुख होते हुए आत्मतल्लीनता प्राप्त करले तो तत्क्षण धर्मात्माकी परिपूर्ण सम्पत्तिको प्राप्त कर सकता है, जिससे उसे आगें दूसरा जन्म ही धारण न करना पड़े। इसतरह वह आराधकसे आराध्य बन सकता है। उसकी आराधना करनेवाले कैसे होते हैं, यही आगें बताते हैं—

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारम्।
वंदण णमंसणादि हि तत्तो सो धम्ममादियदि ॥९३॥
तेण णरा व तिरिच्छा देवीं वा माणुसिं गदिं पप्पा।
विहविस्सरियेहिं सया संपुण्ण मणोहरा होंति ॥९४॥

तं दृष्ट्वा तुष्टो भूत्वा – भ्युत्थाय नमनादिभिः।
सत्करोति विशिष्टात्मा याति धर्मित्वमेष च ॥९३॥
तेन दैवीं मानुषीं वा गतिं प्राप्यात्र वैभवात्।
समर्थितात्मभावोऽसौ भवेत् पूर्ण मनोरथः ॥९४॥

उसे देखते ही उठकर श्रद्धायुत हो सत्कार करे।
स्तवन वन्दनादिकके द्वारा धर्मार्जनमें प्रेम धरे॥
देवाधिप राजेन्द्र सरीखे एक दोय भव लेकरके।
जन्म जलधिके पार जाय वह संयमपूत पोत धरके ॥४७॥

सारांशः—उपर्युक्त परमात्मा या महात्माको देखते ही जिसके चित्तमें उल्लास उत्पन्न होजाता है वह प्रसन्नता पूर्वक आसन परसे उठकर खड़ा होकर उसका स्वागत करना, उसे उच्चासन देना, नमस्कार वन्दना स्तवनादि करना एवं गुणानुवाद करके सत्कार करनेवाला जीव भी धर्मोपार्जन कर लेता है। आंशिक रूपमें धर्मात्मा बन जाता है। वह उस धर्मके द्वारा इन्द्र, महेन्द्र, चक्रवर्ती आदिकी विभूतिको प्राप्त करके दो चार भवमें ही संसारसे पार हो जाता है।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि यह जीव भी यदि सत्य श्रद्धानवाला है तब तो ठीक है परन्तु वह श्रद्धावान न होकर केवल गतानुगतिकतादिसे (अंधानुकरणसे) उपर्युक्त कार्य करता हो तो फिर धर्मात्मा न होकर शुभयोगजन्य पुण्यबंध मात्र करनेवाला होता है। इससे सांसारिक सुख सम्पत्ति तो प्राप्त हो जाती है परन्तु निकट संसारितासे वह वंचित रहता है।

—धर्मात्मा और अधर्मात्माका स्पष्टीकरण—

आत्माके दर्शन ज्ञान और चारित्र इन गुणोंका नाम धर्म है। इनकी अवस्था गलत, सही और विच्छिन्नके भेदसे तीनप्रकारकी होती है। सही दशाका नाम सद्धर्म या धर्म होता है। गलत दशाका नाम अधर्म और विच्छिन्न अवस्थाका नाम कुधर्म होता है। जैसे किसी भी प्रकारके एक विश्वास पर न जमकर बिना पेंदेके लोटेकी तरह लुढ़कते रहनेका नाम अदर्शन है। वस्तुका यथार्थ श्रद्धान करनेका नाम सद्दर्शन है और यद्वातद्वा मनमाना स्वीकार कर लेनेको कुदर्शन कहते हैं। वस्तु स्वरूपका ज्ञान न होकर केवल खाने पीने और सोने आदि जीवन निर्वाहकी बातोंका ही स्मरण रहना, अज्ञान है।

कर्तव्याकर्तव्यका उपयुक्त विचार आना सच्चा ज्ञान है और अपनी तरफसे कुयुक्तियाँ बनाकर उनका समर्थन करना कुज्ञान कहलाता है। विषय कषायोंमें ही लगे रहनेका नाम अचारित्र है किन्तु इनका त्याग करके निष्कषाय बननेका नाम सच्चारित्र है। व्यर्थके कायक्लेशादिमें तत्पर होनेको कुचारित्र कहते हैं। इनमेंसे कुदर्शन, कुज्ञान और कुचारित्र कुधर्म है। यह भी एक तो तटस्थतारूप और दूसरा उच्छृङ्खलता रूपके भेदसे दो प्रकारका होता है।

जैसे ऊपरसे जैनमतानुयायी होकर भी अंतरंगसे जैनमतके प्रति श्रद्धानका न होना, जैनमतके शास्त्रोंको पढ़कर उन्हें स्वीकार करते हुए भी, उनका आम्नाय विरुद्ध और ही अर्थ लगाना, जैनमत विहित सदाचारको ही स्वर्गादिककी इच्छा रखते हुए पालन करना, तटस्थ कुत्सित

धर्म कहलाता है और जैनमतके सिवाय किसी अन्य मतका अनुयायी होना, कुयुक्तियों द्वारा समर्थन करते हुए उसीका प्रचार करना एवं तत्कथित अनुष्ठानका ही आचरण करना, उत्पन्न कुत्सित धर्म कहलाता है।

इनमेंसे अधर्म (पाप)का फल नरक निगोदादिमें जाकर दुःख ही दुःख भोगना है। कुत्सित धर्मधारी बनकर यह जीव भवनत्रिक देव-योनिको प्राप्त करता है। अपूर्ण सद्धर्मके द्वारा लौकान्तिकादि सद्देव बनता है किन्तु परिपूर्ण सद्धर्मसे साक्षात् मोक्षको प्राप्त कर लेता है। ऐसे धर्मकी जय हो।

इसप्रकार प्रवचनसारका यह ज्ञान प्ररूपक प्रथम खण्ड सम्पूर्ण हुआ।



ज्ञेयाधिकार

जो वस्तु ज्ञानका विषय हो उसे ज्ञेय कहते हैं। वह वस्तु गुण और पर्यायात्मक होती है, ऐसा न मानकर जो पर्याय मात्रको मानता हो वह पर समय होता है, ऐसा यहाँ बताते हैं—

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥ १ ॥
जो पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥ २ ॥

ज्ञेयं ज्ञानेन वस्तुस्या-द्यदस्त्यत्र गुणात्मकम्।
तैरेव पर्यया यत्र मूढः परसमय वाक् ॥ १ ॥
नरादिरूपमात्मानं जानन्नेव स मूढधीः।
स्वभावे स्थितिमादत्ते स्वीय समयः एव सः ॥ २ ॥

बोधका विषय वस्तु गुणी गुणपर्यय वाला होता है।
जो केवल पर्याय बुद्धि परसमय वही सुख खोता है ॥
नरपर्ययादिमय ही अपने को माने परसमय वही।
रागरोषसे हीन हुआ आत्मस्वभाव निजसमय सही ॥ १ ॥

सारांश—ज्ञानके द्वारा जानने योग्य वस्तु गुण पर्यायात्मक होती है। यह अपने आपमें सदाके लिए अनेक गुणोंको लिये हुए उनका

अखण्ड पिण्ड स्वरूप होती है। प्रत्येक गुण भी अपने आपमें निरन्तर एकके बाद एकरूपसे उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंमें किसी न किसी एक पर्यायकी अवस्थाको लिये हुए हर समय बना रहता है। ऐसा पहिले बता चुके हैं। इसका यह अर्थ होता है कि हरएक ही वस्तु तात्कालिक होकर भी शाश्वत है। उस वस्तुके भूत और भविष्यत्‌को बिलकुल भी याद न रखकर केवल वर्तमान अवस्था मात्रको ही स्वीकार करनेवाला मोही (भूल करनेवाला अज्ञानी) जीव होता है।

वह मूढ अपनी मूढताके कारण जिस समय जैसी अवस्था धारण करता है उस समय अपने आपको वैसा ही मान बैठता है। मनुष्य शरीर धारण करने पर अपने आपको मनुष्य तथा पशु शरीर धारण करने पर अपने आपको पशु ही समझा करता है। मनुष्यता और पशुता न तो केवल जीवकी ही अवस्था है और न केवल अजीव कहलानेवाले पुद्‌गल द्रव्यकी ही अवस्था है। यह तो जीव और पुद्‌गल इन दोनोंकी संयोगी अवस्था होती है।

जो जीव अपनेको मनुष्य या पशु मानता है वह पर (पुद्‌गल)को आप और आप (जीव) को पर (पुद्‌गल) माननेवाला होनेसे परसमय होता है। किन्तु इसके विपरीत अपने शरीर तथा शरीरसे संबंधित अन्य पदार्थोंके प्रति रहनेवाले अहंकार ममकार भावसे सर्वथा रहित होकर अपने आपको शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्दरूप अनुभव करनेवाला जीव स्वसमय होता है। स्वसमय तथा परसमय ये दोनों ही तादृश विश्वास एवं तदनुरूप चेष्टासे घटित होते हैं।

घोर मिथ्यात्वके वशमें रहनेसे जो आत्माकी शुद्धताको किसी भी तरह स्वीकार ही न करता हो, कोई भी आत्मा स्त्री पुत्र धन धान्यादि बाह्य निमित्तोंके कारण प्रस्फुटित होनेवाले मोह रागद्वेषादि विकारी भावोंको बिलकुल भी न होने देकर केवल ज्ञानघन एवं शरीर रहित होगया हो या हो सकता हो, इस बातको माननेके लिए भी तैयार न हो किन्तु श्वासादियुक्त जो यह चलता फिरता शरीर है इसीका नाम आत्मा या जीव है और जबतक यह है तबतक अपनी आवश्यकताओंको

प्रयत्नपूर्वक यथासाध्य पूरी करना ही इसका एक कार्य है । ऐसी धारणा रखने वाला जीव परसमय कहा जाता है ।

जो अपनी आत्माको जड़ शरीरसे भिन्न, नित्य, ज्ञानमय तथा शरीरको उसका निवासस्थान समझ चुका हो और शरीरके साथ ममत्व होनेके कारण उत्पन्न होनेवाली अनेक प्रकार की आवश्यकताओंको निस्सार जानकर उन पर भी पूर्ण विजय पा चुका हो, यथार्थ वीतराग दशा पर पहुंच गया हो वह हम लोगोंसे पूज्य स्वसमय होता है ।

शेष चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि व्यक्ति विश्वासमें तो स्वसमय बन चुका है परन्तु व्यवहारमें परसमयको छोड़कर स्वसमय बन चुका हो, ऐसी बात नहीं है । व्यवहारमें यथासंभव अपने पिताको पिता, माताको माता और भाईको भाई आदि मानता है । द्रव्यलिंगी मुनिकी दशा इससे विपरीत होती है । यह अपने व्यवहारमें तो किसीको भी नहीं अपनाता है परन्तु श्रद्धानमें उसका लगाव संसारकी बातोंके प्रति बना ही रहता है । इसप्रकार स्वसमय तथा परसमयको बताकर आगे द्रव्यका लक्षण कहते हैं—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥३॥
सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥४॥

अपरित्यक्तरूपेण ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मकम् ।
गुणवच्चसपर्यायं यत्तद्द्रव्यमितीष्यते ॥३॥
सत्वं स्वभावो द्रव्यस्य गुणैः स्वैरपि पर्ययैः ।
विचित्रैः सर्वदा ध्रौव्यो-त्पत्तिव्ययसमन्वितैः ॥४॥

जनि नाश स्थिति युक्त अनन्यभावसे जो संबद्ध रहे ।
द्रव्य वही गुण और पर्यायोंसे परिपूर्ण विचार सहे ॥
अपने नाना गुण पर्यायोंमें होकर जो नियत रहे ।
समुत्पत्ति हानि स्थितिसे यह वस्तुका सदा स्वभाव है ॥२॥

सारांशः—पहिचाननेके उपायका नाम लक्षण है। इसके द्वारा पहिचानने योग्यका नाम लक्ष्य है। यहाँ द्रव्य तो लक्ष्य है और उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य या गुण पर्याय उसका लक्षण है। द्रव्यका अर्थ द्रवित होने वाला, अपने आपके रूपमें बहता रहनेवाला होता है। यह होना अथवा रहना भी दो तरहसे होता है। एक तो अपनेपनको लिये हुए रहना है जिसे स्वरूपास्तित्व कहते हैं। दूसरा, औरोंका भी साथी कहलाना, इसे सामान्यास्तित्व कहते हैं।

सामान्यास्तित्वको दृष्टिमें रखकर द्रव्यका लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तता कहा जाता है और स्वरूपास्तित्वकी अपेक्षा गुणपर्ययवत्ता द्रव्यका लक्षण कहा जाता है। प्रत्येक द्रव्यके गुण और पर्यायें उसी द्रव्यमें रहते हैं और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य हर द्रव्यमें पाये जाते हैं। नवीनता आजानेका नाम उत्पाद है और प्राचीनता न रहनेका नाम व्यय है किन्तु ऐसा होते हुए भी तत्पन बने रहनेका नाम ध्रौव्य है। जैसे एक वस्त्र मलिन था, उसे साबुनसे धोया गया जिससे वह स्वच्छ होगया फिर भी वस्त्र वही है।

द्रव्यमें सदा बनी रहने वाली शक्तिको गुण कहते हैं। उसके परिवर्तनको (यथासंभव बदलनेको) पर्याय कहते हैं। गुण दो प्रकार के होते हैं, १ सामान्य गुण २ विशेष गुण। सामान्य गुण उन्हें कहते हैं जो सब ही द्रव्योंमें समानरूपमें पाये जावें, जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व। विशेष गुण उन्हें कहते हैं जो दूसरे द्रव्योंमें न पाये जावें जैसे चेतना गुण जीवमें ही पाया जाता है, पुद्गल आदिमें नहीं अतः यह जीवद्रव्यका विशेष गुण है, मूर्तिमत्व पुद्गलमें ही पाया जाता है औरोंमें नहीं, अतः यह पुद्गलका ही विशेष गुण है, इत्यादि।

पर्याय भी दो तरहकी होती है। एक व्यंजन पर्याय और दूसरी अर्थ पर्याय। प्रधानतया प्रदेशत्वगुणके परिणमनका नाम व्यंजन पर्याय है और अन्य सब गुणोंके परिणमनका नाम अर्थपर्याय है। ऐसा जैन सिद्धान्त प्रवेशिकामें लिखा है। गुणकी प्रधानतासे वस्तुका ध्रुवत्व माना गया है। पर्यायकी प्रधानतासे उत्पाद और व्यय माने गये हैं। द्रव्यका यह लक्षण आचार्य महाराजने आत्मभूत कहा है। दण्डीके लक्षण दण्ड

की तरह भिन्न न होकर अग्निके लक्षण उष्णपनेकी तरह द्रव्यसे अभिन्न है।

द्रव्य स्वयं ही अपनी पूर्वपर्यायके रूपमें नष्ट और तदुत्तर पर्यायके रूपमें उत्पन्न होता हुआ अपने गुणोंके रूपमें ध्रुव रहता है। ये तीनों बातें द्रव्यमें सदा एक साथ होती हैं अतः ये स्वभाव हैं और द्रव्य इनके द्वारा स्वभाववान है। अपने अपने गुण पर्यायोंके द्वारा प्रत्येक द्रव्य भिन्न होकर भी सत्ता सामान्य द्वारा सब आपसमें एकता रखते हैं, यही बात आगे स्पष्ट रूपसे कहते हैं—

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥५॥
दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥६॥

वस्तुत्वोपदेशकेन सर्वव्यापि सुलक्षणम्।
जिनेनोक्तं सदित्येकं द्रव्याणां भिन्न चिह्निनाम् ॥५॥
निर्बाधरूपतः सिद्धं स्वतः सल्लक्षणांकितम्।
वस्तु तत्वं न यो वेत्ति मिथ्यादृष्टिरिहोच्यते ॥६॥

निजनिजरूपयुत द्रव्योंको सबको सदा सुहाया है।
धर्मोपदेशदायक जिनजीने सल्लक्षण गाया है॥
सहजसिद्ध उस लक्षणयुत वस्तुत्वको जो न गहे।
वही परसमय होता है ऐसा जिनशासन सदा कहे ॥३॥

सारांशः—जीव चेतनावान् है और पुद्गल रूपादिमान् है इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी विशेषताको लिये हुए होनेसे एक दूसरेसे भिन्न है। फिर भी अस्तित्व सामान्यकी अपेक्षासे सब द्रव्य एक होजाते हैं। प्रत्येक पदार्थके अन्य गुण जैसे और द्रव्योंसे हटकरके उसके उसीमें रहते हैं वैसेही प्रत्येक पदार्थका अस्तित्व सामान्य भी उसका उसीमें रहता है। ऐसा कभी नहीं है कि अस्तित्व बिछी हुई जाजमकी तरह या फैले हुए दीपकके प्रकाशकी तरह अखण्ड एक चीज हो और वहाँ पर बैठे

हुए मनुष्यादिकी तरह सब पदार्थ हों जो उस सत्ता सामान्यको स्वीकार किये हुए उससे पृथक् हों। यह अवश्य है कि जैसा एक द्रव्यका अस्तित्व है वैसे ही दूसरे द्रव्यका भी है। जैसे एक मनुष्य, मनुष्य है वैसे ही दूसरा मनुष्य भी मनुष्य है।

इस समानताको लेकर ही सब द्रव्य एक और उनकी सत्ता भी एक कही जाती है, जो अस्तित्वसामान्य है अर्थात् यह भी है और यह भी है। इसप्रकारके अनुगत विचारके द्वारा सब पदार्थगत ठहरती है। अन्यथा तो फिर सब पदार्थ अपनी अपनी सत्ता भिन्न भिन्न रखते हैं। यह बात दूसरी है कि कोई भी पदार्थ सत्ताविहीन न तो कभी हुआ है, न है ही और न होगा ही क्योंकि सत्ता पदार्थका स्वभाव है। जो सत्ताविहीन है, वह पदार्थ ही नहीं है, जैसे वंध्या पुत्र। इस बातको नहीं मानकर और तरहसे माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, वह भूल करता है, सही रास्ते पर नहीं है। इसीका समर्थन आगे और भी किया जाता है—

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥७॥
ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥८॥

वस्तु सत् परिणामेना-नुबद्धं यदवस्थितम्।
परिणामो ह्यसौ ध्रौव्यो-त्पत्तिनाशसमन्वितः ॥७॥
भंगहीनो नतूत्पादो नभंगोऽपि जनिं विना।
तावुभावपि न ध्रौव्य-मृतेसंभवतोऽर्थसात् ॥८॥

क्योंकि जनि स्थिति नाशयुक्त ही होता सदा वस्तु परिणाम।
अतः वस्तुका स्वभाव सत्ता माना गया हुआ अभिराम ॥
समुत्पत्तिके बिना नाश या नाश बिना उत्पत्ति नहीं।
नाश और उत्पत्ति संघटित होती है हो ध्रौव्य वही ॥४॥

सारांशः—वस्तु सदा परिणमनशील होती है। परिणाम नाम बदलनेका है, यह वस्तुका स्वभाव है। जैसे एक बेंत है जो सीधी थी

वह मुड गई, तिरछी होगई या पहले तिरछी थी सो अब सीधी होगई, कहना चाहिए कि वह बदल गई, उसमें परिवर्तन होगया। ऐसा परिवर्तन स्पष्टरूपसे या अस्पष्टरूपमें वस्तु का निरन्तर होता ही रहता है। यह उत्पाद, विनाश और अवस्थानरूप होता है। इनमेंसे यदि एक भी न हो तो वह नहीं बन सकता है। जब अकेला नाश होता है तब उसको बदलना नहीं किन्तु मिटना या रहना कहते हैं। इसीप्रकार अकेले उत्पादको होना और अकेले ध्रौव्यको बना रहना कहते हैं। यह वस्तुका न होकर उसकी एक किसी अवस्थाका होता है। जो अपने प्रतियोगी नाशादिकके बिना कभी नहीं होसकता है, उन्हें साथमें लिये हुए ही रहता है। यही बात आगे स्पष्टरूपसे बताते हैं—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥९॥
समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०॥

पर्यायाणां भवन्त्येते ध्रौव्योत्पादव्यया सदा।
येषामाधाररूपेण वर्तते द्रव्यमित्यदः ॥९॥
अर्थात् स्थिति व्ययोत्पाद संज्ञैरंशैः समर्थितः।
युगपज्ज्ञायतामंशी पदार्थस्तत्त्रयात्मकः ॥१०॥

उत्पाद स्थिति और नाश भी पर्ययसे ही होता है।
तीनोंका तादात्म्य जहाँ वह वस्तु यही समझौता है॥
प्राक्पर्यायका नाश औरका जन्म तथा स्थिति तत्पनसे।
एकसाथ तीनों जहाँ वही उन तीनोंमय वस्तु लसे ॥५॥

शङ्का:—यहाँ ग्रंथकारने उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनोंको ही जो पर्यायस्वरूप बताया है वह हमारी समझमें नहीं आया। हम तो ऐसा समझते हैं कि उत्पाद और व्यय ये दोनों अंश पर्यायात्मक होते हैं किन्तु ध्रौव्यांश गुणात्मक, जो तीनों मिलकर द्रव्य कहे जाते हैं।

उत्तरः—ठीक है, जहाँ क्रमभावी अंशका नाम पर्याय और सहभावी अंशका नाम गुण बताकर उनके समूहको द्रव्य कहा गया है वहाँ तो ऐसा ही समझना चाहिए परन्तु यहाँ तो आचार्यश्रीने अंशमात्रको पर्याय कहकर तद्वान्को वस्तु बतलाया है। द्रव्यमें गुण अनेक होते हैं जो हमारे ज्ञानमें भिन्न भिन्न आते हैं। जैसे पुद्गल द्रव्यके स्पर्श गुणको हम हाथसे छूकर जानते हैं। रसको जीभसे चखकर और गंधको नाकसे सूंघकर जानते हैं, इत्यादि।

इसीतरह उस गुणके क्रम भी अपने अपने भिन्न भिन्न होते हैं। जैसे आम रूपकी अपेक्षा हरेसे पीला और रसकी अपेक्षा खट्टे से मीठा बनता है। अनेक गुण और उनकी अनेक अवस्थाओंका समायोग द्रव्य है। अब यहाँ उस अनेक गुण और उनकी अनेक अवस्थाओं वाले द्रव्यमात्रको संक्षेपसे तीन भागोंमें विभक्त करके दिखा रहे हैं कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों अंश, भाग, पर्याय एक साथ हो रहे हों, वही द्रव्य, वस्तु या अंशी है।

शङ्काः—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीनों एक ही समयमें कैसे बन सकते हैं क्योंकि होना और मिटना तो प्रकाश और अंधकारके समान परस्पर विरोधी हैं।

उत्तरः—ठीक है, किसी एकही बातका होना और मिटना तो एक साथ नहीं हो सकते हैं परन्तु किसी एक बातका होना तथा दूसरी का मिटना एवं तीसरीका वना रहना एक साथ क्यों नहीं हो सकता है? हम देखते हैं कि आमका खट्टापन मिटता है उसी समय उसमें मीठापन आता है और जिह्वेन्द्रियग्राह्यता वैसीकी वैसी बनी रहती है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसीप्रकार—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥११॥
परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेव त्ति ॥१२॥

एक उत्पद्यते व्येति द्रव्यस्यान्योऽथ पर्ययः ।
नोत्पद्यते न च व्येति द्रव्यत्वमिति पश्यताम् ॥११॥
अभाव नामतो भावा-न्तरमेव निगद्यते ।
द्रव्यस्य परिणमतो गुणपर्ययशालिनः ॥१२॥

किसी चीजकी एक अवस्था हटकर दूजी आती है ।
चीज वही रहती है ऐसी बात चित्तको भाती है ॥
भावान्तरका ही अभाव यह नाम भी हुआ करता है ।
वस्तुमें वहाँ वस्तुत्व वही यों गुणपर्यय धरता है ॥६॥

सारांशः—द्रव्य अपनी एक पर्यायका त्याग करता हुआ अन्य पर्यायको स्वीकार करता है परन्तु उसकी द्रव्यता हर हालतमें बनी रहती है । दो द्वयणुक मिलकर चतुरणुक बनते हैं तब वहाँ द्वयणुकपना हटकर चतुरणुकपना ही आता है किन्तु स्कंधपना या पुद्गलपना बना का बना ही रहता है । एक संसारी जीव मनुष्यसे देव बनता है तब औदारिक शरीर हटकर वैक्रियक शरीर बन जाता है संसार अवस्था वैसीकी वैसी बनी रहती है ।

किसी भी पच्यमान आममें हरापन मिटकर पीलापन आगया तथापि दृश्यतामें कोई अन्तर नहीं है । इसप्रकार अनेक उदाहरण दिये जासकते हैं । भिन्न भिन्न द्रव्योंके संयोग सापेक्ष जो पर्याय होती है वह द्रव्यपर्याय कहलाती है किन्तु एक ही द्रव्यमें जो पर्याय होती है वह गुणपर्यायके नामसे कही जाती है । किसी भी द्रव्य या गुणमें अवस्थान्तर होना ही उससे पूर्व की अवस्थाका नहीं होना है । जैसे सवस्त्रताका होना ही नग्नताका न होना है, सिद्ध दशाका होना ही संसारदशाका न होना है जो आधार (जीव)की सत्ताको लिये हुए होता है । अतः हर एक द्रव्य स्वयं सत्स्वरूप होता है, ऐसा आगे बताते हैं—

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं ।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥१३॥
पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥१४॥

सत्ता सम्बन्धतः सच्चेत् खरशृंगं च संभवेत् ।
सत्ता वृत्तिः सति व्यर्था ततः सत्वं स्वभावतः ॥१३॥
पृथक्ता नास्ति वीरस्य शासने द्रव्यसत्वयोः ।
अन्यथा तु भवेदेव भिन्नलक्षण सम्भवात् ॥१४॥

सत्ता संबंधसे असत् भी सत् यदि तो खरशृंग बने ।
सतमें सत्तायोग क्या करे यों स्वभावसे सत्व सने ॥
गुणगुणिमें एकप्रदेशता इसीलिये वे भिन्न नहीं ।
गुणका लक्षण और गुणीका और किन्तु यों अन्य सही ॥७॥

सारांशः—कुछ लोगोंका विचार है कि सत्व सामान्य एक पृथक् चीज है और द्रव्य उससे भिन्न है । सत्व सामान्यके साथ संबंध होनेसे द्रव्य भी सत् कहा जाता है । इस पर ग्रंथकारका कहना है कि सत्ता सामान्यके साथ संबंध होनेसे पहिले द्रव्य स्वयं सत् है या असत् है ?

यदि यह कहा जावे कि सत्व संबंधसे पहिले वह असत् ही होता है । तब जिसप्रकार सत्ताके साथ सम्बन्ध होनेसे द्रव्य असत्से सत् हो गया उसीप्रकार गधेके सींग भी उसी सत्तासे सम्बंधित होकर सत् क्यों नहीं बन जाता है, उसे कौन रोकता है ? क्योंकि दोनोंके ही स्वयं असत्पनेमें कोई भेद नहीं है । फिर सत्ताका सम्बन्ध पृथिव्यादिके साथमें हो और खरविपाणके साथमें न हो इसमें विशेष नियामक कौन है ?

यदि पृथिव्यादि द्रव्योंको सत्ता सम्वन्धके पहिले भी सद्रूप ही मान लिया जावे तब वहाँ सत्ता सम्बन्ध होनेका फल क्या शेष रह जाता है ? कुछ भी नहीं । यही सर्वज्ञ श्री वीर भगवान्का कथन है कि जीवादिक सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं सद्रूप हैं । ये सब गुणी हैं और इनका सत्व गुण है । जो भिन्न प्रदेशत्वके रूपमें इनसे कभी भी पृथक् नहीं होता है किन्तु सर्वथा एकरूप ही होता है और उनसे किसी भी तरहसे भिन्न प्रतीत नहीं होता है, ऐसी वात भी नहीं है ।

गुण और गुणीमें संज्ञा, संख्या, प्रयोजनादिसे भेद भी रहता ही है । जैसे वस्त्र और उसकी सफेदीमें होता है । वस्त्रकी सफेदी नेत्र इन्द्रियके

द्वारा जानी जाती है, स्पर्शन आदिके द्वारा नहीं जानी जा सकती है किन्तु वस्त्रको जिसप्रकार हम लोग नेत्र इन्द्रियसे जान सकते हैं वैसे ही स्पर्शनादि इन्द्रियोंके द्वारा भी जान सकते हैं अतः मानना पड़ता है कि सफेदी वस्त्रसे भिन्न है।

इसीप्रकार सत्ता और द्रव्यमें भी अन्यपना है। सत्ता अपने आप में अन्यगुणसे रहित स्वयं गुणरूपसे आश्रित होकर रहनेवाली है किन्तु द्रव्य वस्तुत्वादि अनेक गुणोंका समुदायरूप गुणी होकर उस सत्ताका आश्रयभूत है। इसप्रकार सत्ता और द्रव्यके स्वरूपमें भेद है। ऐसा ही आगे और भी स्पष्टरूपसे बताते हैं—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१५॥
जं दव्वं तण्ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो ही अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

सद्द्रव्यं सन् गुणः सत्त्वा पर्याय इति विस्तरः।
अतद्भावोऽन्यरूपेणै-कस्या भवनमस्ति यत् ॥१५॥
द्रव्यमेव गुणो न स्याद् गुण एव न द्रव्यवाक्।
इत्यर्थात्किन्तु नाभाव एव कस्यापि कुत्रचित् ॥१६॥

है पद है गुण है पर्यय भी किन्तु न पद ही सत्ता है।
और न गुण ही या पर्यय ही यही विचार महत्ता है॥
जो गुण है वह नहीं द्रव्य है द्रव्य नहीं गुण अहो कहा।
जीवाभाव अजीवकी तरह किन्तु नहीं है भिन्न यहाँ ॥८॥

सारांशः—ऊपर सत्ताको द्रव्यका गुण बताया है सो वह गुण होकर भी गुणरूप ही हो ऐसी बात नहीं है किन्तु वह द्रव्य गुण और पर्याय इन तीनों रूपोंमें रहता हुआ पाया जाता है। जैसे मोतियोंकी मालाकी श्वेतता, हार, सूत और मोती इन तीनोंमें दिखती है। हार भी श्वेत, उसके मोती भी श्वेत और उसमें होनेवाला सूत भी श्वेत है। ऐसी ही वस्तुमें रहनेवाली सत्ताकी दशा है। स्वयं द्रव्य भी सत्स्वरूप, उसका

हरएक गुण भी सत्स्वरूप और उनमें होनेवाली प्रत्येक पर्याय भी सत्स्वरूप होती है जिससे हमको द्रव्य है, गुण है और पर्याय हैं, इसप्रकार का अनुभव होता रहता है। यह तो तद्भाव हुआ।

जो द्रव्य है वही गुण नहीं एवं जो गुण है वही द्रव्य नहीं क्योंकि जो द्रव्य ही गुण हो तो फिर संसारी जीव गुणवान् बननेका प्रयत्न क्यों करे और अगर गुणको ही द्रव्य मान लिया जावे तो फिर हमको अपनी आँखोंसे आमके पीले रूपका ज्ञान होता है, उसी समय उसके चखने आदिका विचार भी निवृत्त होजाना चाहिये, ऐसा होता नहीं है। अतः द्रव्य और गुणमें भी भेद है। यह अतद्भाव कहलाता है क्योंकि जिसप्रकार जीवद्रव्यमें अजीव द्रव्यका तथा अजीव द्रव्यमें जीवद्रव्यका अभाव होता है, इस प्रकारका प्रदेशात्मक अभाव आपसमें गुणगुणीमें नहीं होता है अर्थात् परस्पर द्रव्य और गुणकी सत्ता एक रहती है। फिर द्रव्यका और गुणका क्या स्वरूप है, यह आगे बताते हैं—

जो खलु दव्वसहावो परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं ॥१७॥
णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुणभावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥१८॥

स्वभाव एव द्रव्यस्य सदा परिणमन् गुणः।
येन संलक्ष्यते द्रव्यं महद्भिः सदवस्थितम् ॥१७॥
विना द्रव्यं गुण कोऽपि पर्यायोऽपि न कश्चन।
द्रव्यत्वं भवनं नाम द्रव्यं सत्त्वैव तावता ॥१८॥

अस्तिरूप परिणाम वस्तुका सत्ता सिद्ध कहाता है।
स्वयं वस्तु के साथ सत्वका यों गुण गुणिपन आता है॥
द्रव्य विना गुण नहीं और पर्याय नहीं कोई होती।
द्रव्यपणा परिणाम तथा यों द्रव्यसत्वकी समझौती ॥६॥

सारांशः—द्रव्योंमें सदा ही रहनेवाले स्वभावका नाम गुण है। जिसके द्वारा होनेवाला द्रव्य स्वयं विद्वानोंके विचारमें आया करता है

अर्थात् गुण आधेय हैं और द्रव्य उनका आधार है। आधारके बिना आधेय कहाँ रह सकता है, यह बात तो सरलतासे मानली जाती है परन्तु आधेयके बिना आधार भी कैसे हो सकता है, कभी नहीं होसकता है, यह बात भी मानने ही योग्य है। जैसे पत्नी पतिका आधार लेकर बनती है ऐसे ही पत्नीके बिना पति भी पति संज्ञाको नहीं पासकता है। इनमें आधार आधेयका भेद भी इसीलिए है कि एक पतिके अनेक पत्नियाँ हो सकती हैं ऐसे ही एक द्रव्यमें अनेक गुण होते हैं।

मतलब यह है कि परस्पर मिले हुए अनेक गुणोंका अखण्ड पिण्ड ही द्रव्य होता है। जैसे उष्णता, पाचकता और प्रकाशकतादिका समन्वय ही अग्नि होती है। इनमेंसे एक भी यदि न हो तो अग्नि भी न हो, इन सबके होनेके लिए उस एकका होना भी अवश्यंभावी है। सत्वविशेषका नाम ही गुण है और उन सबके सत्व सामान्यका नाम द्रव्य है। इसे छोड़कर न तो कोई गुण ही होसकता है और न उसके परिणमनरूप पर्याय ही हो सकती है जैसे पीला तथा भारी भी सोना ही होता है और कड़े कुण्डलादिके रूपमें भी सोना ही ढलता है।

मतलब यह है कि एक ही चीज द्रव्य, गुण और पर्यायके रूपमें परिणत होती हुई प्रतीत होती है। इसप्रकारसे परिणमन करते हुए भी अपने स्वरूपको लिए हुए रहना यही द्रव्यकी द्रव्यता है, इसीका दूसरा नाम सत्ता है। द्रव्यकी इस द्रव्यता अथवा सत्ताको उपयोगमें लानेके लिए हम जैसे लोगोंके पास अब दो प्रकारकी विचारधारा प्रस्तुत है। एक साधारण और दूसरी असाधारण। इसीको आगे स्पष्ट करते हैं—

एवंविहं सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा लहदि ॥१९॥
जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि ण जहं अण्णो कहं होदि ॥२०॥

द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्यां नयाभ्यामिति वस्तुनि।
उत्पत्तिः सन्मयी यद्वा लक्ष्यतेऽसावसन्मयी ॥१९॥

जीवोऽयं नरदेवादि-भूतोऽस्ति च भविष्यति ।
जीवत्वात्प्रच्युतो नोचेत् किं नाम परिवर्तनम् ॥२०॥

इसविधि पदार्थमें द्रव्यार्थिक नयसे सन्मय उत्पत्ति ।
पर्यायार्थिकसे हो यद्यपि वह असद्भावकी सम्पत्ति ॥
हुआ जीव वही जो कि होरहा होगा भी नरसुरआदि ।
जीवपनेसे रहित कहीं क्या ? यों तत्पनकी यह गा दी ॥१०॥

सारांशः—साधारण विचारधाराको सामान्यदृष्टि या द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और असाधारण विचारधाराको विशिष्टदृष्टि या पर्यायार्थिक नय कहते हैं। द्रव्यार्थिक नयसे देखनेपर वस्तु जो पहिले थी वही अब भी है और आगे भी रहेगी किन्तु पर्यायार्थिक नयसे देखने पर वस्तु जैसी पहिले थी वैसी अब नहीं है, और ही है एवं आगे भी कुछ और ही हो जावेगी। जैसे इस समय जो मनुष्य है, वह अपने पूर्वजन्ममें पशु था और आगेके जन्ममें देव होजावेगा। इसप्रकार पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे पदार्थ प्रतिसमय बदलता रहता है, और का और होता रहता है परन्तु जीवसे अजीव कभी नहीं होता है, जीव सदा जीव ही रहता है। जो जीव पहिले पशु पर्यायमें था, वही अब नर पर्यायमें है और आगे देव पर्यायमें भी वही जीव रहेगा, उसके जीवत्वमें कोई भी अन्तर नहीं होता है, जो था वही रहता है फिर भी—

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥२१॥
दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥२२॥

किन्तु मर्त्यो न देवोऽस्ति देवो मर्त्योऽथनिर्वृतः ।
अनन्यभावमाप्नोति चैवं स न भवन् कथम् ॥२१॥
द्रव्यार्थिकेनानन्यं यत्तदन्यत् पर्ययार्थतः ।
तत्कालं तन्मयत्वेन भवेद्वस्तु विचारतः ॥२२॥

हाँ जब नर है सुर न वही तब यों अनन्यपना भी आया।
जब वह नहीं कहो फिर कैसे जीव एक ही रह पाया ॥

द्रव्यार्थिकसे वही द्रव्य पर्यायार्थिकसे नहीं वही ।
क्या विशेषसे तन्मयता रखता है वह उस काल नहीं ॥११॥

सारांश:—जीवादि द्रव्योंमें जो उनकी पर्यायें होतीं हैं वे अपने ही समयमें होती हैं, अन्य समयमें उनका अभाव रहता है। जिस समय जो पर्याय होती है वह आममें होने वाली खट्टे मीठेपनकी तरह उससे अपृथक् ही होती है। अतः कहना चाहिये कि द्रव्य ही नवीनसे नवीन होता रहता है। जिस समय जो मनुष्य है उस समय उससे देवका काम नहीं लिया जा सकता है और देवसे मनुष्य या पशुका काम नहीं लिया जा सकता है। अतः अवस्था भेदसे जीव बिल्कुल भी नहीं बदलता है, ऐसी बात नहीं है किन्तु यह जीव मनुष्य है, यह जीव देव है और यह जीव सिद्ध है, इत्यादि रूपमें भिन्न भिन्न ही होता है।

बात यह है कि हमारी दो आँखोंमेंसे एक आँख दाहिनी तरफसे देखती है और दूसरी बांई तरफसे देखती है। इसीप्रकार द्रव्यार्थिक नय वस्तुके अनेक विशेषोंमें होकर रहनेवाले सामान्यधर्मको ग्रहण करता है अतः उसको दृष्टिमें वस्तु वही है, ऐसा अनुभव होता है। पर्यायार्थिक नय वस्तुके सामान्य स्वरूपको न देखकर उसमें निरन्तर होनेवाले विशेषोंको ग्रहण करता है अतः उसकी दृष्टिमें वस्तु अब और है, और है ऐसा नया नया अनुभव होता रहता है।

जब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंसे एक साथ काम लिया जाता है तब वस्तु होकर भी और और अवस्थाको धारण करती हुई एक साथ दोनोंरूप प्रतीत होती है। इसको कहनेवाला कोई मुख्य एक शब्द न होनेसे इसे अवक्तव्य कहा जाता है। इसप्रकार वस्तु स्वरूप विवेचनके मूल तीन भंग प्रस्तुत होते हैं और फिर चार इनके संयोगी भंग बनकर अपुनरुक्त सप्तभंगोंके द्वारा वस्तुका व्याख्यान होता है। ऐसा आगे बताते हैं—

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥२३॥
एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥२४॥

अस्ति वा नास्ति वा द्रव्यं सहावक्तव्यमेव वा ।
क्रमेणोभयथाऽन्यद्वा पर्यायेण तु केनचित् ॥२३॥
जन्तोः काषायिकी चेष्टा क्षणिका च विपाकिनी ।
कथ्यते परमो धर्मोशाश्वतश्चाविपाककृत् ॥२४॥

किसी दृष्टिसे हैं न किसीसे भावाभावात्मक जब हैं ।
सभी वस्तुएँ अवाच्य भी जब एक शब्दसे तत्व कहें ॥
रागादिक भावोंमय चेष्टा क्षणिक और फलदायक हो ।
परम धर्मकी दशा सदा रहनेवाली अफलायक हो ॥१२॥

सारांशः—१ प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव, अस्ति मिथ्यादृष्टि है । २ क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नास्ति मिथ्यादृष्टि है । ३ तीसरे गुणस्थानमें अस्ति नास्ति मिथ्यादृष्टि है । ४ दूसरे गुणस्थानवाला अवक्तव्य मिथ्यादृष्टि है । ५ क्षायोपशमिक सम्यक्त्ववाला अस्त्यवक्तव्य मिथ्यादृष्टि है क्योंकि उसके सम्यक्प्रकृति नामका मिथ्यात्व रहता है फिर भी वह मिथ्यादृष्टि कहनेमें नहीं आता है । ६ उपशम सम्यक्त्ववाला जीव नास्त्यवक्तव्य मिथ्यादृष्टि है क्योंकि वर्तमानोदयमें मिथ्यात्व नहीं होता है अतः वह नास्ति मिथ्यादृष्टि है किन्तु उत्तरकालमें वह क्षायोपशमिक सम्यक्दृष्टि भी हो सकता है और मिथ्यादृष्टि, मिश्रगुणस्थानी तथा सासादनी भी हो सकता है । अतः वह उत्तरकालापेक्षया सम्यक्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि नहीं कहा जा सकता है । इसीलिये वह नास्ति रूपके साथसाथ अवक्तव्य मिथ्यादृष्टि होता है । ७ करणलब्धि प्रवृत्त जीव अस्तिनास्त्यवक्तव्य मिथ्यादृष्टि है ।

इसीप्रकार हरएक वस्तुके हरएक गुण धर्मके ऊपरसे ये सातों भंग लगाकर उसका स्वरूप समझा जाता है । जैसे १ घड़ा अपने रूपसे है अर्थात् पानी भरने आदिके काममें आ सकता है । २ यही पररूपसे नहीं है अर्थात् पट (वस्त्र) आदिका काम नहीं दे सकता है । ३ उसमें दोनों बातें हैं अतः है । (हरएक काम दे सकता है) ऐसा भी नहीं कह सकते हैं अतः वह अवक्तव्य भी है । ४ घड़ा है क्योंकि वर्तमानमें जल भरनेके काममें आरहा है किन्तु जीर्ण शीर्ण है, आगे काम नहीं देनेवाला भी है अतः है भी और नहीं भी है । ५ घड़ा अभी तो है किन्तु उसमेंसे अब

पानी टपकने (निकलने) लग गया है अतः है जैसे नहीं भी है इसलिये अस्त्यवक्तव्य है। ६ अपना घड़ा अपने पास नहीं है, वह दूसरेके पास रखा हुआ है इसलिये कौन कह सकता है कि वह आवश्यकता होनेपर काम आवे या नहीं, अतः वह नास्त्यवक्तव्य है। ७ घड़ा अपने पासमें है किन्तु वह दूसरेका है, कौन कह सकता है कि वह अपने पास रहे या नहीं, अतः वह अस्ति नास्ति और अवक्तव्य भी है। ऐसे ही सभी बातोंमें समझ लेना चाहिये।

जब हम किसी बातका विधान करते हैं तव "है" इतना मात्र ही न कहकर "यह अमुक वस्तु है" इस तरह अवान्तर सत्ता सहित महासत्ताके रूपमें विधान किया करते हैं। इसका घुमाव खाकर यह भी अर्थ होजाता है कि इस निर्दिष्ट वस्तुके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। इसीलिये बौद्ध महाशय तो यहाँ तक कह देते हैं कि हरएक वाक्य का अर्थ अन्यापोह अर्थात् विवक्षित वस्तुके अतिरिक्त और सबका निषेध करना मात्र ही है। उनके इसप्रकारके कथनमें यह कमी रहती है कि हमको उस वाक्यके सहारेसे जो, उस वस्तुका अनुभव होता है, वह नहीं होना चाहिए। जैसे यह कहा गया कि—यह रोटी है, इसका अर्थ बौद्धोंके विचारानुसार यह हुआ कि यह भात वगैरह नहीं है। फिर भूखा आदमी उस वाक्यके आधार पर उसे खानेके लिए जो उत्कंठित हो उठता है सो क्यों ?

इस पर यदि यह कहा जावे कि भात वगैरह और सब चीजोंके सिवाय रोटी ही तो बच रहती है, जिसके खानेसे भूख मिटती है अतः भूखा मनुष्य उसे खाना चाहता है। फिर अन्यापोह ही वाक्यका मतलव न होकर अनन्यका संविधान भी तो उसी वाक्यका अर्थ हो गया। एक मनुष्य बोला कि—यह दूध नहीं है। अन्यापोहको वाक्यार्थ माननेवालों के यहाँ इसका यह अर्थ होना चाहिये कि—दूधके सिवाय और सब है। जो अभावात्मक न होकर विधानात्मक पड़ता है तथा बिलकुल असंगत भी ठहरता है। अतः इसका अर्थ यही लिया जावेगा कि दूध तो है नहीं, उसके सिवाय यह कोई न कोई चीज है।

इसीप्रकार कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि—वाक्यका अर्थ तो हर हालतमें विधानमात्र ही है क्योंकि कोई वाक्यविशेष किसी भी तरहके निषेधांशको लेकर भी क्यों नहीं प्रस्तुत हुआ हो, फिर भी उसके अंतमें तो 'है' रहा करता है जो विधान शून्य नहीं होता है। इस पर हम यह पूछना चाहते हैं कि वाक्यके अंतमें रहनेवाले 'है' का अर्थ तो विधान है परन्तु उसमें रहनेवाला अवशिष्टांश भी अपना कुछ मतलब रखता है या नहीं ? वह बिल्कुल निष्प्रयोजन ही बोला गया हो, यह बात तो नहीं मानी जासकती है।

विधान तो विधेयका होता है। उसके बिना नहीं हो सकता, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं अर्थात् 'है' कहने मात्रसे काम नहीं चलता अपितु प्रश्न रहता है कि क्या है ? इस पर और भी कुछ नहीं तो कमसे कम 'यह' तो लगाना ही पड़ता है। जब यह है तो इसीके साथ इसका अर्थ—वह नहीं है ऐसा भी हो जाता है, नहीं तो फिर 'यह' कहनेका कोई भी मूल्य नहीं रहता है। अतः कहना चाहिए कि हरएक वाक्यका मतलब भेदाभेदात्मक, विधिनिषेधात्मक होता है। जैसा कि "विधियप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः।" इस देवागमके श्लोकार्द्धमें बताया गया है।

जब कहा जाता है कि 'अयमस्ति' यह है, तव इसको स्पष्ट करनेके लिए सिद्धान्तका कहना है कि इसके साथमें 'स्यात्' शब्द और होना चाहिये अर्थात् इसको 'अयम् स्यादस्ति' इसप्रकार समझना चाहिए। इस 'स्यात्'के लगानेका मतलब यह हुआ कि यह (निर्दिष्टवस्तु) है, इसमें अपने रूपसे अस्तित्व धर्म है किन्तु इसीमें पररूपसे नास्तित्वादि धर्म भी रहते हैं। कुछ लोग यहाँ कहे गये इस 'स्यादयमस्ति'का अर्थ 'शायद यह है' इस प्रकार सन्देहात्मक ले बैठते हैं सो यह उनकी भूल है। इसका अर्थ तो स्पष्टरूपसे निर्णयात्मक है कि 'यह अपने रूपसे है।'

यहाँ यह शंका अवश्य होसकती है कि 'स्यादस्ति अयम्' ऐसा तो आप जैसे कोई कभी ही कहते होंगे। अन्य सब लोग तो 'अस्ति अयं' यह है ऐसा ही कहते हुए देखे जाते हैं। इस पर विद्वानोंका कहना है

कि जिसप्रकार सत्यभामाको सत्या या भामा मात्र भी कहकर सत्यभामा समझा जाता है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। 'स्यात्' शब्द न कहने पर भी हर जगह उसे कहा हुआ समझना चाहिये। इसीका नाम स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) है जो सफलतादायक है।

—उत्पादादि पर स्यादस्तीत्यादि का प्रयोग—

वस्तुके होने या वननेरूप प्रभवांशको लक्ष्यमें लेकर 'स्यादस्ति' एवं मिटने या न रहनेरूप व्ययांशको लेकर 'स्यान्नास्ति' किन्तु न कुछ वनने और न कुछ मिटने ही रूप किन्तु ज्यों का त्यों रहनेरूप ध्रौव्यांशको लेकर 'स्यादवक्तव्य' भंग प्रयुक्त होता है। इसीतरह उत्पादके साथ व्ययांशको लेकर 'स्यादस्ति नास्ति' उत्पादके साथ ध्रौव्यांश लगाकर 'स्यादस्ति च अवक्तव्य' व्ययांशके साथ ध्रौव्यांशको लेकर 'स्यान्नास्ति चावक्तव्य' और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य इन तीनोंको ध्यानमें रखकर 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य' भंग कहा जाता है।

जैसे एक सुवर्णका कड़ा था, उसे तोड़कर उसका मुकुट वना लिया गया। तब एक व्यक्ति कहता है कि अब यह मुकुट वन गया है। दूसरा कहता है कि अब यह कड़ा नहीं रहा है। तीसरा कहता है कि क्या मुकुट और क्या कड़ा, कुछ भी हो, पहिले अलंकार था और अब भी अलंकार है। हमारी तुम्हारी शोभा वढानेवाला ही था और शोभा वढाने वाला ही अब है। चौथा कहता है कि ठीक है किन्तु अब कड़ा न कहलाकर मुकुट कहलाता है अथवा यों कहो कि अब पत्रदार होगया है, घेरदार नहीं रहा। पाँचवाँ कहता है कि इसीलिये तो परमालंकार समझकर इसे अब हम सिर पर लगाते हैं। छठा कहता है कि अव यह पैरका अलंकार नहीं रहा, पैर खाली होगया। सातवाँ कहता है कि जो पहिले पैरका अलंकार था, वही अब सिरका अलंकार हो गया है।

इसीप्रकारसे हरएक वस्तुके उत्पादादिकोंको लेकर श्रीमान् भगवान् सर्वज्ञदेवका वताया हुआ सप्तभंगात्मक अनेकान्तवाद हम लोगोंके व्यवहारमें हरसमय आता रहता है। ये उत्पादादि सद्भूत (सदृशरूप) और असद्भूत (विसदृशरूप)के भेदसे दो दो तरहके होते हैं। इनमेंसे

सद्भूत उत्पादादिक तो हर एक द्रव्यमें सहजभावसे प्रतिसमय हुआ करते हैं परन्तु असद्भूत उत्पादादिक परप्रयोग सापेक्ष होते हैं। ये पुद्गल स्कंधोंमें और संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं।

दूसरेके सम्बन्धसे पदार्थमें जो विकाररूप चेष्टा होती है, उसीको क्रिया कहते हैं। यह सदा न रहनेवाली और कुछ न कुछ अपना फल विशेष दिखलानेवाली होती है। जैसे परमाणुसे परमाणु मिलता है तब वह स्कंध बन जाता है और परम सूक्ष्मतासे च्युत होकर स्थूल हो जाता है। पुद्गल और आत्माके परस्पर संबंधमें पुद्गलका ज्ञानावरणादिक कर्मरूपमें और आत्माका रागादिभावरूपमें विकार होता है। इसका फल नर नारकादि अवस्थाओंमें परिभ्रमण है।

जब यह आत्मा अपने सहजभाव, पूर्ण वीतराग भावरूप परम धर्मका धारक होजाता है तब उपर्युक्त संसार परिभ्रमणरूप फलके पानेसे भी रहित होजाता है। यहाँ पर ग्रंथकारको फल शब्दका अर्थ विप्लव ही अभीष्ट है अर्थात् वीतरागता ही इस जीवको झंझटसे रहित करनेवाली है। गाथामें आये हुए 'स्वभाव निर्वृत्ता' शब्दका अर्थ स्वभावसे बनी हुई नहीं समझना चाहिये किन्तु स्वभावसे रहित अर्थात् विभावरूप अर्थ समझना चाहिये। जैसा कि आगे सुस्पष्ट है—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥२५॥
णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणा सकम्माणि ॥२६॥

आत्मस्वभावमाक्षिप्य नामकर्म करोति तम्।
पशुं च नारकं मर्त्यं सुरं स्वीय प्रभावतः ॥२५॥
कर्मानुसारतो जीवा नामकर्म कृतानि भान्।
नरादि पर्यायान् भ्रष्ट—स्वभावा उपयान्त्यमी ॥२६॥
नामकर्म अपने प्रभावसे चेतनको विचलाता है।
तव यह चेतन नर होकर पशु नारक देव कहाता है॥

कर्मोंके अनुसार परिणमन करनेवाला अज्ञानी ।
नरनारकादि पर्यायें भुगता करता है अघ खानी ॥१२॥

शङ्काः—आचार्यके इस कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि कर्म आत्माको हटात् नरनारकादिरूप करता है। हमने तो सुना है कि कर्म तो केवल उदासीनरूपसे निमित्तमात्र होता है। इसके उदयका निमित्त पाकर यह आत्मा स्वयं ही नानारूप परिणमन करता रहता है, तत्तद्रूप होता रहता है। कर्म बरजोरी (जबरदस्ती) नहीं करता है।

उत्तरः—चार घातिया कर्मोंको दूर कर देनेके बाद भी आठ वर्ष तथा एक मुहूर्त कम एक करोड वर्षों तक आत्मा इस शरीरमें मनुष्यके रूपमें बनी रहती है। सो क्या अपने आप ही ? ऐसा नहीं होता है किन्तु अघातिया कर्मोंके वश होकर ही उसे ऐसे रहना पड़ता है, अरहन्त कहलाना पड़ता है। यह बात दूसरी है कि उन कर्मोंको भी पहिले इस आत्माने ही कर्मोंके रूपमें स्वीकार कर रखा है। अब तो वे सब अपने समय पर ही इस आत्मासे दूर होंगे और तब ही इस आत्माको अरहंत से सिद्ध बननेका अवसर देंगे।

इसीप्रकार नारकी जीव जो अपने अशुभ शरीरमें पड़ा रहकर दुख सहता रहता है सो क्या अपने आपही ? नहीं, ऐसा नहीं होता है। उसे उसका आयुकर्म ही रोक-रखता है। स्वर्गीय शुभ शरीरको भी छोड़कर पशु आदिका शरीर धारण करना पड़ता है, ऐसा क्यों होता है ? कर्मोंके विवश होकर अर्थात् उसका देवायु कर्म तो पूर्ण हो जाता है और तिर्यगायु कर्मका उदय आ जाता है, जिससे उसे पशु बनना ही पड़ता है। जैसा कि श्री उमास्वामी आचार्यने 'विग्रहगतौ कर्मयोगः' ॥२५-२॥ इस सूत्रसे स्पष्ट करके बताया है। सूत्रकार कहते हैं कि इस जीवको एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिए अपने किये हुए कर्मके उदयसे (दबावसे) जाना पड़ता है। जैसे कि हवाके झोंकेमें आकर घासके तिनकेको इधरसे उधर उड़कर जाना पड़ता है।

शङ्का:—जैन शास्त्रोंमें कई स्थानों पर ऐसा लिखा हुआ है कि कर्म तो केवल निमित्त हैं। बुरा या भला तो यह आत्मा अपने आप ही बनता है। ऐसा क्यों लिखा गया है?

उत्तर:—ऐसा जो लिखा हुआ है वह तो केवल राग द्वेष मोहको लक्ष्यमें रखकर लिखा गया है। आत्माके द्वारा बंध किये हुए ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंमें एक मोहनीय ही ऐसा कर्म है जिसके उदयमें यह जीव मोहित होकर पर पदार्थोंमें ममत्वभाव करता है और हर्ष विषाद युक्त होता है। यदि सही विचारसे काम लेवे तो उसे रोक सकता है या कमसे कम कर सकता है, यह इसके वशकी बात है।

मोहनीय कर्मका जिसप्रकार उदय होता है वैसे ही उसका उपशम तथा क्षय और क्षयोपशम भी किया जासकता है। मोहनीय कर्मके अतिरिक्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों का एकान्त उदय कभी नहीं होता है, क्षयोपशम ही रहता है अतः उपशम भी नहीं रहता है, क्षय अवश्य किया जा सकता है। अब रहे अघातिया कर्म, सो इनका क्षयोपशम भी कभी नहीं होता है। इनका तो यथासंभव उदय ही रहता है और उदय होकर अभाव हो जाया करता है। इनके उदयसे यह जीव नर नारकादि बनता है। जीव होकर भी अपने जीवत्वको सदा एकसा नहीं रख सकता है। यही आगे बताते हैं—

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ॥२७॥
तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स ॥२८॥

सद्भूतापेक्षया जीवो न नश्यति न जायते।
भव एव यतो नाशः किन्तु तौ रूपतः पृथक् ॥२७॥
असद्भूततयाक्रान्तो जायतेऽपितु नश्यति।
स्वभावावस्थितः कश्चित् संसारेऽस्मिन्न विद्यते ॥२८॥

प्रतिपल उत्पादादिकमय यह चेतन जन्म न लेता है।
और न मरता है फिर भी तो प्रभव मरणको खेता है॥
यह संसार कर्ममय इसमें परिवर्तन करनेवाला।
सहजभाव संयुक्त नहीं हो सकता होता मतवाला ॥१४॥

सारांशः—यह पहिले भी वताया जा चुका है कि यह जीव अपने सद्भूत उत्पादादिककी अपेक्षासे प्रतिसमय सहजभावसे अपने आपमें ही उत्पन्न और विलीन होता रहता है। यदि यह अपने स्वभावमें ही रहे तब तो इसका जन्म और मरण कभी नहीं हो सकता है। फिर तो जन्म और मरण दोनों शब्द ही व्यर्थ हो जाते हैं परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसने तो सदासे ही कर्मोंके साथ सम्वन्धित होकर असद्भूतपनको अपना रखा है। अतः नरादिमेंसे एक अवस्थाको त्याग कर दूसरीको ग्रहण करता रहता है, इसीका नाम संसार है।

यह संसार क्षणिक एवं नाशमान् है। मनुष्य मरकर देव होता है और देव मरकर पशु हो जाता है। ऐसा ही होता रहता है। यहाँ पर जीवत्व सामान्यकी अपेक्षा देखा जावे तो वही जीव मरता है और वही जन्म लेता है। इसप्रकार जन्म और मरणमें या उत्पाद और विनाशमें परस्पर एकता तथा अनेकता दोनों आ जाती हैं। जैसे जो घड़ा है वही कूंडा है। ऐसा कहनेसे घड़े एवं कूंडेमें एकता नहीं मानी जा सकती है किन्तु कहनेवालेको पागल समझकर उस पर हँसी आजाती है। अतः उन दोनोंको एक वतलानेके लिये उनकी आधार स्वरूप मिट्टीको लेकर कहा जावे तो वही बात ठीक हो जाती है।

ऐसे ही जो मनुष्य है वही स्वर्गीय देव भी है। यह वात मनको नहीं भाती है क्योंकि इन दोनोंमें स्पष्ट भेद दिख रहा है। यदि ऐसा जीवत्वकी अपेक्षा कहा जावे तो समझमें आ जाता है अर्थात् पर्यायार्थिक दृष्टिसे अनवस्थित होते हुए भी द्रव्यार्थिक दृष्टिसे जीव अवस्थित है। अस्तु! इस संसारका मूलाधार क्या है? यह आगे स्पष्ट करते हैं—

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥२६॥

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥३०॥

विकरोति सकर्मायं रागद्वेषादिरूपतः ।
ततः सञ्चीयते कर्म नूतनं भावानुसारतः ॥२९॥
कर्म नाम विकारस्य यत्र भूतार्थके नये ।
तत्र जीवो न कर्ताऽस्तु पौद्गलिकस्य कर्मणः ॥३०॥

है अनादिसे कर्मयुक्त इससे विकार परिणाम धरे ।
ताकि पुनः कर्म प्रयोग इस चेतनसे सम्बन्ध करे ॥
कर्म नाम परिणाम और परिणाम तथा परिणामीमें ।
भेद कौन यों जीव नहीं कर्त्ता कर्मका सुवाणीमें ॥१५॥

सारांशः—ग्रंथकार कहते हैं कि जव यह आत्मा रागद्वेषादि सहित होता है तब कर्मरूपमें होने योग्य पुद्गल वर्गणाओंका संग्रह करता है। यही संसारका मूल कारण है। इस पर यह पूछा जा सकता है कि आत्मामें रागद्वेष उत्पन्न होनेका भी कोई न कोई कारण विशेष होना चाहिये क्योंकि रागद्वेष आत्माके सहजभाव नहीं माने जा सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि उन संग्रहीत कर्म वर्गणाओंके साथमें तन्मयताका होना ही रागद्वेषको पैदा करनेवाला है। यह तो एक दूसरेके भरोसे पर होनेसे निस्सार प्रतीत होता है।

जैसे ताला खुले तो चाबी निकले और चाबी निकले तो ताला खुले, ऐसे ही भाव बिगड़े तो कर्म बने और कर्म हों तब उनके उदयसे भाव विगड़े। ऐसा तो तब कहा जा सकता है जब कि कर्मोंका सम्बन्ध आत्माके साथमें किसी निश्चित समयसे कहा गया हो। जैन सिद्धांतमें तो संसारी आत्माको सदासे ही तिल तैलकी तरह सकर्मा बताया है। अतः पूर्व कर्मोंके संबन्धसे इसके रागद्वेषादि भाव होते हैं और इन विकारीभावोंके द्वारा नूतन कर्म संग्रहीत होजाते हैं। ऐसा क्रम चलता रहता है, इसमें कोई बाधा नहीं आती है। अस्तु।

यहाँ प्रसंग पाकर आचार्यश्री ने कर्म क्या हैं और उनका कर्त्ता कौन है ? इस पर प्रकाश डाला है। व्याकरण शास्त्रमें करनेरूप क्रिया के करनेवालेको कर्त्ता और उसके द्वारा जो किया जावे उसे कर्म कहा गया है। कर्मका ही दूसरा नाम कार्य भी है। यह हम लोगोंके नित्यके अभ्यासमें अभिन्न रूपसे और भिन्न रूपसे दो तरहसे देखनेमें आता है। जैसे कहा गया कि रामलालने लालच किया अतः वह भूठन भी चाट गया। यहाँ करनेवाला, एक रामलाल है और उसके कार्य दो हैं। एक लोभ करना और दूसरा भूठन चाट जाना। लालच तो रामलालका परिणाम (भाव) है। यह उससे अभिन्न है, पृथक् नहीं है और भूठन उससे भिन्न वस्तु है जिसे वह चाट गया। ऐसे ही आत्मा जब रागद्वेषादि सहित होता है तब वह कर्म वर्गणाओंको ग्रहण करता है।

यहाँ भी रागद्वेष आत्माका विकारी भाव है जो आत्माके द्वारा किया जाता है अतः यह भाव आत्माका कर्म है, यह आत्मासे अभिन्न होता है। इन्हीं रागद्वेषादि भावोंके कारणसे आत्मा कार्माण पुद्गल समूह, जो आत्मासे भिन्न द्रव्य है उसको ग्रहण करता है। यह द्रव्य उसका कर्म कहलाता है। ऐसे भावकर्म और द्रव्यकर्मके नामसे दो भेद हो जाते हैं। यहाँ ऐसा भी कहा जाता है कि आत्मा तो अपने भावकर्मका ही कर्ता है न कि द्रव्यकर्मका क्योंकि एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यके द्वारा कभी ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

इस पर शंका होती है कि फिर द्रव्यकर्म कैसे हुआ ? इसका उत्तर यह है कि द्रव्यकर्म, पुद्गल द्रव्यका किया हुआ होता है अतः उसका कार्य कर्म है और उसका कर्ता पुद्गल द्रव्य है। यह उत्तर भी ठीक तरहसे समझमें नहीं आता है क्योंकि फिर तो पुद्गल भी उसके अपने परिणामका ही कर्ता होना चाहिये, न कि पुद्गल द्रव्यका। ऐसी दशामें तो फिर भावकर्म और द्रव्यकर्म इसप्रकारसे भेद न होकर जीव भावकर्म और पुद्गल भावकर्म ऐसे भेद होने चाहिए।

इच्छावान्के द्वारा सम्पन्न परिणमनका नाम ही कार्य या कर्म होता है और वह इच्छावान् जीव उसका कर्ता होता है। ऐसा इन्हीं

ग्रंथकारने अपने समयसार ग्रंथमें कर्तृकर्माधिकारमें गाथा नं० ९७ तथा गाथा नं० १०२ में स्पष्ट बताया है। इच्छा रहित जीव तथा पुद्गलके द्वारा संपादनीय परिणमनको कर्म न कहकर भाव्य कहा जाता है। उसका सम्पादक कर्त्ता न होकर भावुक होता है। निष्कर्ष यह है कि जीवके रागद्वेषादि भावकी तरह पुद्गलका ज्ञानावरणादिरूप परिणमन भी पुद्गलका कर्म नहीं है। यह तो जीवका ही कर्म है, यह जीवके ज्ञानादि गुणोंका घात करता हुआ, उसके लिये फलप्रद होता है।

यह बात दूसरी है कि रागद्वेषादि भाव जीवका स्वयंका विकार-भाव होता है अतः उससे अभिन्न होता है। ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल स्कंध जीवसे भिन्न द्रव्य है। अतः भिन्नको भी ग्रहण करनेवाले अभूतार्थनयसे तो वह भी जीवका ही कर्म है। केवल अभिन्न विकारको ही विषय करनेवाले भूतार्थ नय (अशुद्ध निश्चय नय)की दृष्टिमें ज्ञानावरणादि से जीवका कोई संबंध नहीं है। अतः वहाँ तो रागादि भाव ही जीवका कर्म है और जीव उसका कर्ता है ऐसा जैनागमका कथन है।

जीवका उक्त प्रकारसे रागादि विकाररूप परिणमन, होकर भी चेतनाको नहीं छोड़ता है किन्तु चेतनाका ही तादृश परिणमन होता है। चेतनाका परिणमन तीन तरहसे माना गया है। यही आगे बताते हैं—

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥३१॥
णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥३२॥

आत्मनश्चेतनत्वेन परिणामस्त्रिधा मतः।
आगमे गुणिनामीशै र्ज्ञाने कर्मणि तत्फले ॥३१॥
अर्थनिर्णायकं ज्ञानं कर्म जीव समर्जितम्।
अनेकविधमेतद्यत् फलं दुःखं सुखं पुनः ॥३२॥

चेतनतया परिणमन इस आत्माका जगमें होता है।
कर्म और फल तथा ज्ञान यों तीन भावको ढोता है॥
वस्तुविवेचक बोध और जो जीव द्वारा किया गया।
कर्म वही नाना प्रकार फल उसका सुख दुख लिया गया॥१६॥

सारांशः—चेतना नाम अनुभव करनेका है। यह जीवका स्वभाव है। आगमज्ञ लोगोंने उसे तीन भागोंमें विभक्त कर बताया है। (१) मैं जानता हूँ, जाननेवाला हूँ इसप्रकारके जानने मात्रको ज्ञान चेतना कहते हैं। यह ज्ञानी वीतरागियोंका धर्म है और उनकी आत्मामें पाया जाता है। (२) मैं करनेवाला हूँ, अमुक बात करना मेरा काम है अतः ऐसा करूं, वैसा न करूं, उसे मारूं, उसे जिलाऊँ इत्यादिरूपसे विचार पूर्वक किसी भी कार्यमें तल्लीन होनेको कर्मचेतना कहते हैं। यह संज्ञी दशामें (मनसहित अवस्थामें) सरागी जीवोंके हुआ करती है। यह स्थूलरीतिसे सत् कर्म चेतना और असत् कर्म चेतनाके भेदसे दो तरहकी होती है। भगवान्का भजन करलूँ, दान देऊँ, संतोष धारण करलूँ इत्यादि शुभ कार्योंमें प्रवृत्त होनेका नाम सत् चेतना है किन्तु अपने आरामके लिये धन कमालूं, मकान बनवालूं, खेती करलूं इत्यादि शरीरेन्द्रिय पोषक अशुभ कार्योंमें लगे रहनेका नाम असत् कर्म चेतना है।

(३) खाता हूँ, पीता हूँ, सोता हूँ, डरता हूँ और भागता हूँ इत्यादि रूपसे कर्मफलके वशमें रहनेको कर्मफल चेतना कहते हैं। यह भी सुख भोगने और दुख पानेके भेदसे दो भागोंमें विभक्त है। यह एकेन्द्रिय जीवसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें होती है किन्तु कर्मचेतना योग्य संज्ञीजीवके भी यथासंभव यथावसर होती है। पदार्थके निर्णयका नाम ज्ञान, विचारपूर्वक जीवके करने योग्य चेष्टाका नाम कर्म और उसका आत्मा पर जो प्रभाव हो उसका नाम फल है। ये तीनों आत्माके ही परिणाम हैं। ऐसा सोचकर तटस्थ रहना ही साधुता है, इससे आत्मा निर्मल बनती है। यही आगे बताते हैं—

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो॥३३॥

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो ।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥३४॥

आत्मैव मन्यतामेतज्ज्ञानं कर्म च तत् फलम् ।
परिणाम स्वभावत्वात् परिणामोऽस्य चैषकः ॥३३॥
इत्यभिन्नतया कर्तृ-करणादि समाश्रयन् ।
नोदीक्षते परं साधु-रात्मानं शुद्धमेति सः ॥३४॥

जब कि परिणमनरूप हुआ यह परिणामोंको ढोता है।
ज्ञान कर्म तत्फलरूपतया आत्मा ही तो होता है ॥
हाँ मुनि राग रोष विरहित हो शुद्धबोधयुत होता है।
कर्म कर्मफलरूप चेतनातीततया सुख जोता है ॥१७॥

सारांशः—पहिले बताया जाचुका है कि ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफल चेतना ये तीनों ही आत्माके परिणाम हैं। ज्ञान (जानना) आत्माका स्वभाव है परन्तु जब यह संसारी आत्मा किसी भी वस्तुको देखता है या जानता है तब उसी समय उसे अच्छी या बुरी मानकर उसे ग्रहण करना या उसका त्याग (नाश) करना चाहता है। उस पर हर्ष या विषाद प्रकट करता है। यही कर्मचेतना या कर्मफल चेतनाका संक्षिप्त स्वरूप है। ऐसा उपर्युक्त ज्ञान (चेतनाका) का विकार है। उससे जाना हुआ अज्ञान (चेतना) रूप है। ऐसा ज्ञान पदार्थको अपना और दूसरेका माननेसे होता है जिससे यह आत्मा परतंत्रतामें फँस जाता है। अन्य अन्य बातोंको अपना काम और अपने आपको उनको कर्ता मानकर उनके संपादनके लिए कोई न कोई उपाय सोचता रहता है। रात दिन इसी चितामें पड़कर विह्वल बना रहता है।

जो मनुष्य साधु या साधक बन जाता है, सत्संगमें जाकर अपनी आत्माको स्वतंत्र निर्द्वन्द्व बनाना चाहता है, वह सोचता है कि—अहो ! मैं अज्ञानमें बहा जा रहा हूँ, भूल कर रहा हूँ। ऐसा करलूं, वैसा करलूं इत्यादि व्यर्थकी चिंताओंमें फँसा हुआ हूँ। यदि सत्य दृष्टिसे विचार करूं तो मैं अन्य किसीका कर्ता नहीं हूँ। कोई भी किसीका कुछ नहीं कर सकता है। करना कुछ चाहता है और हो जाता है उसके विपरीत।

श्रीकृष्ण चाहते थे कि द्वारिका न जले अतः उन्होंने उसकी रक्षा करनेमें कोई कमी न रखी, फिर भी द्वारिका जल गई। इसलिए किसी का भी किसीको कुछ कर डालनेका अभिमान मिथ्या है। जो कुछ भी होता है वह अपने उपादान और निमित्तरूप कारण कलापके अनुसार होता है। जब मैं किसीका कर्ता नहीं हूँ तब मेरा कर्म कैसा और कौन है? जिससे उसका फल पानेकी प्रतीक्षामें उसे सम्पादन करनेके लिए साधन जुटानेकी आवश्यकता समझी जावे।

जब कुछ कर देना, किसीके वशकी बात नहीं है तब उसे मिटा देना भी कैसे संभव है? अत्यन्त तेज सरदी और गरमीको यद्यपि कोई भी नहीं चाहता है फिर भी यह तो होती ही है। परमात्माके निन्दक लोग भी इस संसारमें पाये जाते हैं। इनको किसीने रोका क्यों नहीं। कंस और जरासिंधुने श्रीकृष्णका नाश करनेके लिये कितने प्रयत्न किये, फिर भी क्या हुआ? जो होना था वही हुआ और जब श्रीकृष्णका भी जानेका समय आया तो वह भी न रह सके। क्षणभरमें ही समाप्त हो गये। नारियलके भीतर होनेवाले पानीको कौन रोक सकता है? वह तो होता ही है और गधेके सींग भी कौन बना सकता है? कोई नहीं। इत्यादि बातों पर जब गंभीरतासे विचार किया जाता है तब यही निष्कर्ष निकलता है कि न तो कोई, किसीका करनेवाला है और न हरनेवाला है। फिर मैं क्या चीज होता हूँ? न तो मैं किसीको करने वाला ही हूँ और न किसीको मिटा देने वाला ही हूँ।

श्री जिन भगवानने बताया है कि मैं तो केवल जानने वाला हूँ। जानना भी मुझे तो अब और किसीको नहीं है किन्तु अपने आपको ही पहिचानना है। जिसको मैं गंगा स्नानके लिये गये हुए दस नवयुवकोंकी तरह चिरकालसे भूल गया हूँ, इसी कारण यह कष्ट भोग रहा हूँ। आत्माको जान लेने पर मैं कृतकृत्य होजाऊंगा। उसे जाननेके लिये साधनरूपमें मुझे किसी दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है। केवल अपनी दृष्टिको बदलनेकी ही आवश्यकता है।

आजतक मैं समझ रहा था कि मुझे कोई दूसरा सुख देनेवाला है अतः अपनी नाभिकी सुगंधको अन्यत्र समझनेवाले मृगकी तरह ही

उसे पानेके लिए इधरसे उधर भटक रहा था। अब मुझे ज्ञात हो गया है कि भूंगडों (सिके हुए चरणे) के लोभसे घड़ेमें फँसे हुए बंदरके समान अपनी ही भूलसे मैं बाह्य पदार्थोंमें फँसा हुआ हूँ। ऐसा केवल मैं अपने ममत्वभावसे कर रहा हूँ। यदि इसे छोड़ दूं तो मैं भी सुखी बन सकता हूँ। इस प्रकार अपने आप पर सही विश्वास करनेवाला साधु सन्त पुरुष कभी दुखी नहीं रह सकता है। अस्तु। यहाँ द्रव्य सामान्यका अभी तक वर्णन हुआ है। अब आगे उसीके भेद बताते हैं—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अज्जीवं ॥३५॥
पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥३६॥

जीवोऽजीव इति द्रव्यं द्वेधा जीवोऽत्र चेतनः।
चैतन्यरहितस्त्वन्यः पुद्गलादि प्रभेदवान् ॥३५॥
जीवपुद्गलभृल्लोको धर्माधर्मास्तिकायवान्।
कालेन च युतोऽतोन्य आकाशेऽलोक ईष्यते ॥३६॥

जीवाजीव भेदसे द्वेधा द्रव्य बताया जाता है।
बोधयुक्त तो जीव इतर फिर पुद्गलादि जड़ताँता है॥
पुद्गल धर्माधर्म काल जीवप्रयुक्त जो गगन रहा।
उसे लोक केवल नभको मुनियोंने किन्तु अलोक कहा ॥१८॥

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो ॥३७॥
लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥३८॥

क्रियावती भाववती शक्ती द्वे तत्र चादिमा।
जीवपुद्गलयोरेव शेषा सर्वेषु वस्तुषु ॥३७॥
जीवाजीवाभिधं द्रव्यं यैरिदं ज्ञायते सदा।
ते तद्भाव समारब्धा गुणा मूर्त्तास्तथेतरे॥३८॥

पुद्गल और जीव ये दोनों सहजासहज भाव धारें।
शेष वस्तु ये सदा सहज परिणाम लिए ही हैं प्यारे॥
द्रव्य ताकि पहिचाना जावे वह उसका गुण कहलाता।
द्रव्य अमूर्त मूर्त यों गुण भी दो प्रकारताको पाता॥१६॥

सारांश:—मूलमें द्रव्यके जीव और अजीव ये दो भेद हैं। इनमेंसे देखने, जाननेकी शक्तिवाला जीव है इस शक्तिसे जो रहित हो वह अजीव है, ऐसा समझना चाहिये। अजीव द्रव्यके भी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस तरह पांच भेद होते हैं। इन छहों द्रव्योंका जहाँ समायोग है, उसे ही लोक कहते हैं। पाँचों द्रव्योंसे रहित केवल आकाश को अलोक कहते हैं। जीवादि सभी द्रव्योंमें केवल भाववती शक्ति रहती है। इससे हरएक द्रव्य अपने आपके रूपमें पूर्व कथनानुसार निरन्तर परिणमन करता रहता है।

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंमें एक क्रियावती नामकी शक्ति और है। इसके कारणसे दो द्रव्य आपसमें मिलते हैं और बिछुड़ते भी हैं। क्रिया दो तरहसे होती है। १ स्थानसे स्थानान्तर होना, २ आपसमें मिलकर रूपांतर धारण करना, ये दोनों ही शक्तियाँ जीव और पुद्गलमें पाई जाती हैं। जीवादिक द्रव्य भी मूर्त अमूर्तके भेदसे दो भागोंमें विभक्त हैं। इनके गुण भी मूर्त अमूर्त ही होते हैं। लक्ष्य, लक्षणके रूपमें गुण, द्रव्यसे भिन्न होकर भी सदाके लिए उसके साथ एकमेक होकर, उसे अन्य द्रव्यसे भिन्न बतलानेवाले होते हैं। कथंचित् तत्तद्भावको लिये हुए होते हैं। मूर्त गुण कौनसे तथा किस द्रव्यमें और अमूर्त गुण कौनसे तथा किस द्रव्यमें पाये जाते हैं, यही आगे बताते हैं—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा॥३९॥
वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपज्जंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो॥४०॥

अक्षग्राह्यतया ख्याताः पुद्गलद्रव्यसम्भवाः।
गुणा अनेकधा मूर्त्ताः शेषाणामितरे पुनः॥२९॥

वर्णगंधरसस्पर्शा ये भवन्ति च पुद्गले ।
अणोरारभ्य पाषाण पर्यन्तेऽत्र रवादिके ॥४०॥

पुद्गलके गुण मूर्त जो कि इन्द्रियग्राह्य हो जाते हैं।
इतर सभी द्रव्योंके गुण वे अमूर्तता अपनाते हैं॥
सूक्ष्म और बादर पुद्गलमें स्पर्शरूपरसगंध रहै।
भूरि भाँति जिसका विकार वह शब्द आदि सन्नाम गहै ॥२०॥

सारांशः—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये गुण मूर्त कहलाते हैं। ये इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं और स्थूलसे स्थूल पाषाणसे लेकर परम सूक्ष्म पुद्गलाणु तकमें सदा रहते हैं। शब्दादिक पुद्गलकी सभी अवस्थाओंमें पाये जाते हैं। पुद्गल द्रव्यके छह भेद होते हैं, जैसे कि इस गाथामें बताये हैं—

पुढवी जलं च छाया चउरिन्दियविसय कम्मपरमाणु ।
छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं ॥

१ स्थूल स्थूल पाषाणादि जो टूट जाने पर फिर न मिल सके। २ स्थूल जल वगैरह जो बरतन आदिमें भिन्नरूपसे लिये जाकर भी पुनः मिल सकते हैं। ३ स्थूल सूक्ष्म छाया घाम (धूप) वगैरह जो खूब फैले हुए दिखते हैं परन्तु हाथसे पकड़े नहीं जा सकते हैं। ४ सूक्ष्म स्थूल वे कहलाते हैं, जो आँखोंके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंसे जाने जा सकते हैं। जैसे शब्द कानोंसे सुना जाता है, गंध नाकसे सूंघी जाती है आदि। ५ जो स्कंधरूप होकर भी किसी भी इन्द्रियके द्वारा न जाना जा सके, वह सूक्ष्म कहलाता है। जैसे कर्म स्कंध।

६ परमाणु परम सूक्ष्म होते हैं। यद्यपि परमाणु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं है फिर भी जब परमाणुसे परमाणु मिलकर जो स्कंध बनता है वह इन्द्रियसे जाना जाता है। स्पर्शादि चारों गुण पुद्गलमें सदा साथ रहते हैं। यह बात दूसरी है कि कोई गुण कहीं पर प्रस्पष्ट हो और कोई तिरोभूत हो रहा हो। जैसे पार्थिव स्कंधोंमें स्पर्शादि चारों स्पष्ट होते हैं किन्तु जलमें गंध, अग्निमें गंध और रस तथा हवामें स्पर्शके सिवाय तीनोंही गुण छिपे रहते हैं। इन पृथिव्यादि का मूलमें जातिभेद न होकर आपसमें संकर (मिश्रण) होता हुआ पाया

जाता है। जैसे हवासे बादल, बादलसे जल, जलसे अग्नि और अग्निसे भस्म हो जाती है तथा यह देखनेमें भी आती है। अतः ये सब तथा अंधेरा, चांदनी वगैरह पुद्गल द्रव्यकी ही पर्यायें हैं। पुद्गल द्रव्यको छोड़कर शेष सब द्रव्य और उनके गुण अमूर्त ही होते हैं। वे कौन कौन से होते हैं? यही आगे बताते हैं—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरद्दव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥४१॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥४२॥

गमित्सोर्गतिहेतुत्वं धर्मद्रव्यस्य लक्षणम्।
अधर्मद्रव्य चिह्नन्तु स्थास्नोः स्थितिनिमित्तता ॥४१॥
परिवर्तनकारित्वं कालस्य च विहायसः।
अवगाहन दातृत्वं उपयोगो सुधारिणः ॥४२॥

गमनहेतुता धर्मका तथा स्थितिकारणता अधर्मका।
गुण होता है स्थानदान यह सदा गगनके सुशर्मका॥
परिवर्तनकारित्व कालका चेतनका उपयोग सही।
गुणविशेष जिस बिना इन अमूर्त द्रव्योंका सत्व नहीं ॥२१॥

जीवा पोग्गलकाया धम्माऽधम्मा पुणो य आगासं।
देसेहिं असंखादा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥४३॥
लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहि आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा ॥४४॥

बहुप्रदेशिनोऽन्ये तु संसर्गेणाथ पुद्गलः॥
कालाणवोऽभितो लोके पृथक् सन्ति विकीर्णिताः ॥४३॥
सर्वगन्तु नभो धर्मोऽप्यधर्मो लोकसम्मितः।
जीवा अनेक संस्थानाः पुद्गलाश्च भवन्त्यमी ॥४४॥

धर्म अधर्म व्योम जीव ये बहुप्रदेशी द्रव्य कहे।
पुद्गल भी संसर्गितया फिर भिन्न भिन्न कालाणु रहे॥

सर्वव्यापी व्योम लोकमित धर्म अधर्म सदा ही से।
पुद्गल जीव अनेक स्थानी कालविकीर्णित राईसे ॥२२॥

सारांशः—सभी द्रव्योंको स्थान देना आकाशका लक्षण है। आकाश सर्वव्यापी एक द्रव्य है। गमन करनेवाले जीव और पुद्गलको, मछलीको जलकी तरह गमनमें सहकारी होना धर्मद्रव्यका लक्षण है। ठहरनेवाले जीव और पुद्गलको, पथिकको छायाकी तरह ठहरनेमें सहायक होना अधर्मद्रव्यका लक्षण है। हरएक द्रव्यको परिवर्तन करनेमें कुम्भकारके चाकको उसके नीचे रहनेवाले शंकुकी तरह सहायता करना कालद्रव्यका लक्षण है। जीव द्रव्यका लक्षण उपयोग अर्थात् जानना और देखना है। यह पहिले भी बताया जाचुका है।

धर्म और अधर्म द्रव्य एक एक हैं। सम्पूर्ण लोकाकाशमें फैले हुए हैं। प्रत्येक जीव भी पूर्ण विस्तारकी अपेक्षासे लोकाकाशके बराबर हैं परन्तु दीपकके प्रकाशकी तरह संकोच विस्ताररूप होनेसे वह अपने प्राप्त शरीर प्रमाण (समुद्घात अवस्थाको छोड़कर अन्य समयमें) रहता है। अतः जीवोंका कोई एक अवस्थान नियत नहीं है। पुद्गलों की भी यही दशा है। परमाणुकी अवस्थामें सभी पुद्गल एकसे अविभागीपनको लिये हुए होते हैं फिर भी आपसमें मिलकर स्कंध बनते हैं तब अनेक संस्थानवाले होजाते हैं।

जीव द्रव्य संख्याकी अपेक्षा अनन्त और पुद्गल अनन्तानन्त हैं। कालाणु द्रव्य असंख्यात हैं। लोकाकाशके हरएक प्रदेश पर एकएकके रूपमें राईके दानोंके समान भिन्न भिन्न स्थित हैं। यह कालद्रव्य समयके रूपमें परिवर्तन करता रहता है। एक प्रदेश मात्र होनेसे अस्तिकाय नहीं है। शेष पांचों द्रव्य अस्तिकाय (बहुप्रदेशी) हैं। अस्तु। किस द्रव्यमें कितने प्रदेश होते हैं और कैसे होते हैं तथा समय नाम किसका है, यह बताते हैं—

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥४५॥

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥४६॥

अणुना सम्मितं यद्वन् नभोऽनन्तप्रदेशकम् ।
धर्मोप्यधर्मो जीवश्चास्त्यसंख्यात प्रदेशवान् ॥४५॥
मन्दगत्याणुरभ्येति प्रदेशं तु प्रदेशतः ।
तावत् काललवस्याहुः समयं नाम योगिनः ॥४६॥

अणुसे नपकर ज्यों प्रदेश नभके अनन्त होजाते हैं ।
धर्म अधर्म एक चेतन के त्यों असंख्य हो पाते हैं ॥
अणु अपने मन्दगमनसे अन्य प्रदेश पर जाता है ।
उस वेलाका नाम समय वह कालकलन कहलाता है ॥२३॥

सारांशः—पुद्गलके सबसे छोटे खंडको परमाणु कहते हैं । यह सूर्योदयके समय हमारे गवाक्षमें होकर आनेवाले सूर्यकी धूपके साथ पंक्ति सी बनकर आनेवाले त्रसरेणुओंमें से एक त्रसरेणुके भी असंख्यातवें भाग सूक्ष्म होता है । यह परमाणु जितने आकाशको रोकता है उसीका नाम प्रदेश है । इसप्रकार नपनेसे आकाश अनन्तप्रदेशी किन्तु लोकाकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीव इनके असंख्यात, असंख्यात प्रदेश होते हैं । जैसे एक लट्ठा गजसे नपकर चालीस गजका होता है । यह परमाणु अपनी मंदगतिसे एक प्रदेशपरसे दूसरे प्रदेशपर जितनी देरमें पहुँचता है, उतनी देरका नाम समय है । इसी एक समयमें पुद्गल परमाणु या जीव अपनी तेज चालसे चले तो लोकके एक किनारेसे दूसरे किनारे तक भी पहुँच सकता है । ऐसा श्री जिनशासनका कथन है ।

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो ।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥४७॥
आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥४८॥

सोऽस्मिन्नुदेति पर्यायः कालाणुर्नाम तिष्ठति ।
प्रतिप्रदेशं नोत्पन्न प्रध्वंसी स्थाणुवत् पुनः ॥४७॥

प्रदेश नामतः ख्यातं परमाणुमितं नभः ।
तस्मिन् समस्तमप्येतत् सौक्ष्म्यतः स्थातुमर्हति ॥४८॥
वह जिसमें प्रस्फुट होता है सो नित्य स्थिर कालाणु ।
रूपद्रव्य भिन्नभिन्नतया प्रतिप्रदेश यथा स्थाणु ॥
जितने आकाशको एक अणु रोके उसे प्रदेश कहा ।
उसमें सबही रह सकते हैं यदि बादरता न हो अहा ॥२४॥

सारांशः—समय नामकी पर्याय कालाणु द्रव्यकी छोटीसे छोटी अवस्था है। इसे अपनी भाषामें हम लोग क्षण कहते हैं। इसमें भी असंख्यात समय होजाते हैं। समय होनेवाली और मिटनेवाली चीज है। यह निरन्तर होता और मिटता रहता है। यह आधेयरूपसे जहाँ होता रहता है ऐसा उसका आधारस्वरूप कालाणु द्रव्य अपने स्थान पर कीलकी तरह सदाके लिए बना रहनेवाला नित्य और स्थित है। यह आकाशके हरएक प्रदेश पर भिन्न भिन्न विद्यमान है।

प्रदेश (पहिले भी बताया जा चुका है) आकाशके उस छोटेसे अंशका नाम है जिसको एक पुद्गल परमाणु रोकता है। इतने ही स्थानमें धर्मद्रव्यका एक अंश, अधर्मद्रव्यका एक अंश और एक कालाणु द्रव्य भी निश्चितरूपसे है, ऐसे ही और भी परमाणु समा सकते हैं। परमाणु ही नहीं किन्तु सूक्ष्मरूपसे परिणत पुद्गल स्कंध भी रह सकता है।

दूसरे शब्दोंमें यों कहो कि पत्थर वगैरहकी स्थूलता और दीर्घता ही परस्परमें एक दूसरेको रोकनेवाली है, नहीं तो संसारकी सब वस्तुएं भी उस आकाशके एक ही प्रदेशमें आसकती हैं। यही आकाशके अवगाहन गुणकी महिमा है। अब आगे बतलाया जाता है कि पदार्थमें फैलाव दो तरहका होता है। एक तिर्यक्रूप और दूसरा ऊर्ध्वरूप—

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥४९॥
उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्हि ।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥५०॥

अत्र चान्यत्र चेत्येवं तिर्यक्त्वं कालतो विना ।
अथान्यदापि चोर्द्धत्वं कालस्यापि तदीष्यते ॥४९॥
जनिव्ययौ विनोर्द्धत्वं जायेते नहि जातुचित् ।
समयस्यापि दृश्येते तौ ततः तत्र चोर्द्धता ॥५०॥

तिर्यक् प्रचय और सबमें है किन्तु कालमें कभी नहीं ।
उर्द्धप्रचय कालमें भी औरोंमें भी यह बात सही ॥
कालाणुकसे कालाणुकपर मन्दतया अणु जाता है ।
समय नाम पर्याय वहाँ वह कालाणुकमें लाता है ॥२५॥

सारांशः—जो यहाँ, वही वहाँ भी, इसप्रकारके देशव्यापित्वका नाम तिर्यक् प्रचय है । यह कालद्रव्यको छोड़कर अन्य सब द्रव्योंमें पाया जाता है । काल एकप्रदेशी द्रव्य है इसलिये उसमें यह नहीं बन सकता है । जो था वही है या होगा इसप्रकार अनेक क्षणस्थाईपनरूप जो ऊर्ध्वप्रचय वह जैसे अन्य सब द्रव्योंमें है वैसे ही कालद्रव्यमें भी है ।

ग्रंथकार कहते हैं कि काल (समय) केवल निरन्वय उत्पत्ति और विनाशरूप ही हो, ऐसी बात नहीं है । यद्यपि हम सब कहा करते हैं कि अब वह समय नहीं रहा, समय बदल गया, दूसरा आगया किन्तु यहाँ पर भी समयपना तो दोनोंमें है ही । वह भी समय था तो यह भी समय है । समय सामान्यको दोनों दशामें मानना ही पड़ता है । इसके आधार पर समय विशेष आता है और निकल जाता है । मतलब यह है कि होचुका, है और होगा भी समय; इसप्रकार के अनुभवका विषय जो कोई भी वस्तु है वही कालद्रव्य है, यही आगे बता रहे हैं—

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा ।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥५१॥
जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥५२॥

समयत्वेन जायन्ते स्थित्युत्पत्तिव्यया भृशम् ।
यस्येह स हि कालाणु रस्तु सद्भावभृत सदा ॥५१॥

प्रदेशमात्रमेवेति प्रदेशा यस्य नेति यत् ।
शून्यन्तु पुनरस्तित्वादपिच्युतमनर्थकृत् ॥५२॥

पूर्व समयका अभाव पर (समय) की समुत्पत्तिमें कालपना।
सदा वना रहता है ऐसे कालाणुकका ध्रौव्य वना ॥
अगर अप्रदेश ही काल तो कहो कहाँ अस्तित्व रहे ।
क्योंकि विना ध्रौव्यके नाश उत्पाद सदा निस्सार कहे ॥२६॥

सारांशः—कुछ जैन भाई भी ऐसा कहते हैं कि 'णत्थि पदेसत्ति कालस्स' ऐसा आप ही तो इस प्रकरणकी तियालीसवीं गाथामें कह आये हैं तथा 'समओ दु अप्पदेसो' ऐसा छियालीसवीं गाथामें भी कह आये हैं। इसपर ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा तो 'अपदेसो परमाणु' इत्यादि पुद्गल परमाणुकी बात भी कही हुई है परन्तु वहाँ पर अप्रदेशका अर्थ सर्वथा प्रदेशाभाव नहीं लेकर, बहु प्रदेशोंके न होनेरूप एक प्रदेशमात्र ही लेना चाहिये। प्रदेश शून्य तो गधेके सींगकी तरह अस्तित्व रहित होनेसे कुछ भी कार्यकारी नहीं हो सकता।

यदि कालद्रव्यको भी एकप्रदेशी न मानकर अन्य द्रव्योंकी तरह बहुप्रदेशी ही स्वीकार कर लिया जावे तो जो समय नामकी पर्याय काल में होती है वह नहीं बन सकती क्योंकि पुद्गल परमाणु जब अपनी मंदगतिसे आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश पर जाता है तब वहाँ कालाणु भिन्न भिन्न होनेसे ही समय भेद होता है। कालद्रव्यको बहुप्रदेशी मान लेने पर तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय ये दोनों भिन्न भिन्न न रहकर एक तिर्यक् प्रचय ही रह जावेगा। इसप्रकार विशेष ज्ञेय तत्वका निरूपण करके अब यह बताते हैं कि आत्मा ज्ञान और ज्ञेय दोनों रूप होनेसे अन्य सब पदार्थोंसे विलक्षण है और संसार दशामें चार प्राणोंको धारण किये हुए रहता है—

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो ।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो ॥५३॥
इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥५४॥

इति षड्द्रव्य सम्पूर्णं लोकमेनं सनातनम् ।
ज्ञातुमर्हति जीवोऽयं चतुष्प्राणोपधारकः ॥५३॥
इन्द्रियं पंचधा त्रेधा बलमायुः शरीरिणाम् ।
श्वासोच्छ्वासश्च चत्वारः प्राणाः संगदिता अमी ॥५४॥

यों अनादि षड्द्रव्य संग्रहालयको स्वयं जाननेका ।
यह चेतन चार प्राणान्वित होकर रखता है ठेका ॥
तीन तरहका बल होकरके पांच तरहसे इन्द्रिय हैं ।
आयु श्वासोच्छ्वास जीवके प्राण चार यों सदा कहें ॥२७॥

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥५५॥
जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥५६॥

जीवत्यजीवज्जीविष्यत्यसौ जीवश्चतुर्विधैः ।
यथा कर्माभ्युपात्तैर्यैः प्राणा पौद्गलिका अमी ॥५५॥
मोहादि कर्मभिर्बद्धः प्राणानादाय चेतनः ।
कर्मफलं प्रभुंजानो बद्धचतेऽन्यैश्च कर्मभिः ॥५६॥

इन चारों प्राणोंसे जीवित है होगा जो हुआ सदा ।
जीव किन्तु ये प्राण बने पुद्गलाणुओंसे ही सुखदा ॥
इन प्राण संयुक्त जीव यह कर्मबद्ध उनके फलको ।
भोगता हुआ और बांध लेता है धरता है छलको ॥२८॥

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादि कम्मेहिं ॥५७॥
आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ।
ण चयदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसयेसु ॥५८॥

प्राणभृत् प्राणिनां प्राण पीडनं रागरोषतः ।
प्रकुर्वन् बद्धचते ज्ञाना-वरणादि कुकर्मभिः ॥५७॥

सकर्मायमिति प्राणा-नन्यानेति पुनः पुनः ।
ममत्वमनुबध्नाति यावद्देहादि वस्तुषु ॥५८॥

जब यह जीव रागरोषोंसे निजपरके असु हरता है ।
तब ज्ञानावरणादि कर्मका बंध सदा ही करता है ॥
इन कर्मोंसे मलिन हुआ प्राणोंको फिर भी धरता है ।
जबतक देहादिकमें चेतन यह ममत्वको करता है ॥२६॥

सारांशः—उपर्युक्त षड्द्रव्य संग्रहात्मक इस सनातन लोकको जो मात्र जानता है, ऐसे शुद्ध जीवका वर्णन पहिले ज्ञानाधिकारमें किया जा चुका है। यहाँ अब प्रसंगवश अशुद्ध जीवका वर्णन किया जा रहा है। सकर्मा होते हुए जन्म मरण करनेवाले जीवको अशुद्ध जीव कहते हैं। इस साभिलाष जीवके विस्फुरणका नाम कर्म है। यह कर्म—भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मके भेदसे तीन प्रकारका है। १ रागद्वेषादि जीवके ही विकारी भावोंका नाम भावकर्म है। २ इन भावकर्मोंके द्वारा बंधको प्राप्त ज्ञानावरणादिका नाम द्रव्यकर्म है। ३ इन बद्ध कर्मोंका फल प्राप्त करनेके लिए धारण किये हुए शरीर वचनादिका नाम नोकर्म है। इनको सरल भाषामें प्राण कहते हैं। प्राण मूलमें १ इन्द्रिय २ बल ३ श्वासोच्छ्वास और ४ आयु (उदीष्यमान)के भेदसे चार तरहके होते हैं—

इनमेंसे इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्णके भेदसे पाँच प्रकारकी हैं। बल—शरीर, वचन और मनके भेदसे तीन प्रकारका है। इस तरह उत्तर भेद करने पर दस प्राण होते हैं। इनमेंसे स्थावर जीवोंके अपर्याप्त अवस्थाको छोड़कर पर्याप्त अवस्थामें १ स्पर्शन इन्द्रिय २ शरीर बल ३ श्वासोच्छ्वास और ४ आयु ये चार प्राण होते हैं। द्वीन्द्रिय जीवोंके १ स्पर्शन, २ रसना, ३ शरीर बल, ४ वचन बल, ५ आयु और ६ श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं। त्रीन्द्रिय जीवोंके घ्राण इन्द्रिय बढ़कर सात प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रिय जीवोंके चक्षु इन्द्रिय बढ़कर आठ प्राण होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रियोंके मनबलके बिना नौ प्राण होते हैं। संज्ञी पंचेन्द्रियोंके दस प्राण होते हैं।

वास्तवमें पुद्गल कहे जानेवाले इन इन्द्रियादिक चारों प्राणोंको धारण किये हुए रहनेका नाम ही जीवन है और इनका वियोग हो

जाना ही मरण है। जबतक जीव इन्हें धारण किये हुए है तभीतक यह जीवित कहलाता है। ऐसे ही सदासे कहलाता आरहा है और आगे भी कहलाता रहेगा। अपने जीवनके प्रलोभनमें स्वार्थपरायणतासे दूसरोंके जीवनका घातक बनकर अपने जीवनको भी व्यर्थ खो रहा है और नूतन कर्मबंध करके नवीन जीवन धारण कर लेता है। ऐसे ही यह संसार परम्परा तबतक चलती रहती है जबतक कि यह जीव मोह ममतासे रहित नहीं होजाता है। अतः उस ममता पर विजय प्राप्त करनेके लिए अपनी इन्द्रियोंको वशमें करनेकी आवश्यकता है। यही आगे कहते हैं—

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥५९॥
अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥६०॥

इन्द्रियादिजयी भूत्वो-पैति यो ज्ञायकं स्वयम्।
न रज्यते कर्मभिः स जन्ममृत्यू कुतोऽस्य तौ ॥५९॥
निर्जीयास्तित्वयुक्तस्या-त्मनोऽन्यत्र प्रयोगतः।
अस्ति संयोगजो भावः संस्थानादि प्रभेदवान् ॥६०॥

इन्द्रिय विजयी होकरके जो ज्ञायक निजको ध्याता है।
यों कर्मोंसे रहित हुआ प्राणोंसे क्या फिर नाता है॥
ज्ञानयुक्त इस चेतनके पुद्गलसंयोगी भाव बने।
संस्थानादिक भेदोंवाले वें इस जगमें घने घने ॥३०॥

सारांशः—जो स्पर्शनादि इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेता है, इनके स्पर्शनादि विषयोंको बुरा भला मानकर बुरेसे दूर रहनेका तथा भलेको ग्रहण करनेका विचार कभी स्वप्नमें भी नहीं करता है और आत्मेतर द्रव्योंके साथ फिर कोई भी प्रयोजन न रहनेसे केवल ज्ञायक स्वरूप अपनी आत्मामें ही स्थिर हो जाता है, वह सहजमें ही निश्चेष्ट अर्थात् कर्मरहित होजाता है। परमोदासीन बन जाता है। फिर उसे प्राण धारण करनेकी आवश्यकता नहीं होती है। नंगेको धोबी या साबुन पानी की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती है। इसप्रकार वह जन्म मरणसे

रहित होजाता है। जन्म मरणकी आधारभूत जीवकी संस्थान संहनना-दिरूप अवस्था परद्रव्य (पुद्गल)के संयोग बिना नहीं हो सकती है। एकमें संयोगज भाव कैसे बन सकते हैं जो कि ये जीवके नामकर्मादिके उदयसे होते हैं। यही आगे बताते हैं—

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा ।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥६१॥
तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं ।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥६२॥

आकारान्तरतादेव नृनारकादिरूपतः ।
जायते खलु जीवाना-मुदयान्नामकर्मणः ॥६१॥
परिणामित्वमित्येत—दात्मनश्चानुविन्दति ।
स नरो रागरोपाभ्यां न किलान्यत्र मुह्यति ॥६२॥

नामकर्मके विपाकसे पशु नारक नर सुर होता है।
भिन्न भिन्न आकार लिए चेतन कि शुद्धता खोता है॥
उत्पादादि त्रिधा सत्तावाले पदार्थको जो जाने।
वह परमें विकल्पयुत होकर मोहको न मनमें ठाने ॥३१॥

सारांशः—जो समझता है कि मेरी यह मनुष्यादिरूप अवस्था नामकर्मके उदयसे हुई है, इसमें नामकर्मका क्या अपराध है? इसका भी पहिले मैंने ही मेरे राग द्वेष भावोंके द्वारा उपार्जन किया है। अतः जो हुआ सो हुआ। अब भी यदि मैं मेरे परिणामोंको सँभाल कर रखूं, व्यर्थ ही बाह्य पदार्थोंको भला बुरा मानकर इनमें रागद्वेष न करूं तो मेरी आत्माकी सच्चिदानन्द अवस्थामें परिवर्तन लानेवाले वे नामादिकर्म अब आगेके लिए न बँधे। ऐसा सोचकर अपनी भूलको सुधार सकता है और सही मार्ग पर आसकता है क्योंकि आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप होकर भी परिणमनशील है। जबतक यह पूर्ण शुद्धताको प्राप्त नहीं करता है तवतक संसारदशामें इसका उपयोग शुभाशुभरूपमें परिवर्तित होता रहता है। यही आगे वताते हैं—

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥६३॥
उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥६४॥

उपयोगमयोऽस्त्यात्मा ज्ञानदर्शन नामभाक् ।
उपयोगः शुभोऽसौ चा–शुभो भवति चाङ्गिनः ॥६३॥
संचिनोति परं पुण्य–मुपयोगः शुभः स चेत् ।
अशुभः पापमेताभ्यां परस्मिन् न चयो मनाक् ॥६४॥

उपयोग स्वभाव चेतनका दर्शन बोधात्मक सारा ।
परके सम्पर्कमें शुभाशुभ दो प्रकार उसकी धारा ॥
शुभ उपयोग पुण्यचयकारक अशुभ पापचय करता है ।
इन दोनोंके अभावमें चेतन न बंधका भर्ता है ॥३२॥

– शुभोपयोग तथा अशुभोपयोगका स्पष्टीकरण –

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥६५॥
विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ॥६६॥

श्रीजिनसिद्धसाधूनां सत्यश्रद्धानवांस्तथा ।
सानुकम्पो विचारोऽस्य जीवस्य स शुभो मतः ॥६५॥
दुःश्रद्धानतयाऽत्यन्त कषायविषयेषु यः ।
तल्लीनो मार्गतो भ्रष्ट उपयोगोऽशुभः स तु ॥६६॥

श्री जिन सिद्ध साधुकी सच्ची श्रद्धायुत दयादिमय हो ।
ऐसे जीवोंके विचारको ही तो शुभ उपयोग कहो ॥
दुःश्रद्धानतया अन्यायाभक्ष्यवृत्तिमय विचार हो ।
वह अशुभोपयोग सभ्य पुरुष उससे निशदिन दूर रहो ॥३३॥

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥६७॥
णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥६८॥

नष्टोऽशुभोपयोगस्तु शुभतोऽप्युपयोगतः ।
पारमेत्य कदात्मानं श्रयेयं ज्ञानमात्रकम् ॥६७॥
न देहो न मनो वाक् च नाहं तेषां च कारणम् ।
कर्त्ता वाऽथ कारयिताऽनुमन्तापि न जात्वहं ॥६८॥

किन्तु शुभोपयोगसे भी हट अन्य वस्तुके बारेमें ।
तटस्थ हो ज्ञायक निजको ध्याऊं मैं सांझ सवेरेमें ॥
न मैं देह न वचन न चित्त भी और न उनका कारण भी ।
करनेवाला और करानेवाला तो उनका न कभी ॥३४॥

सारांशः—आज इस कलिकालमें भी विदेहसे चलकर चारण महा पुरुषोंका यहाँ पर आना और एकाएक यहांसे लेजाकर विदेहमें विराजमान साक्षात् श्रीसीमंधर स्वामीका सम्पर्क करा देना, ऐसी बात कभी अशुभोपयोगमें संभव नहीं होसकती है । अतः धर्मानुरागको व्यक्त करते हुए प्रसन्नता पूर्वक मूलग्रंथकार कहते हैं कि अहो अशुभोपयोग तो अब विलीन होचुका है । इसका निश्चितरूपसे दूर हटना आज यहाँ वाले इस पामर प्राणीके लिए एक साधारण बात नहीं है । फिर भी इतनेसे ही संतुष्ट होजाना तो मेरी मूढता ही कही जावेगी क्योंकि अनाजको चाहने वाले किसानके लिए लाणको खडा हुआ देखकर ही प्रसन्न होजाना ठीक नहीं कहा जा सकता है । उसे अन्नको सम्पन्न कर दिखानेके लिए प्रयत्नशील रहना ही चाहिये । लाण ही लाणको देखनेमें अन्नको भूल बैठना कृषकता नहीं कही जा सकती है ।

ऐसे ही आचार्य महाराज श्री कुन्दकुन्द स्वामी अपनी वर्तमान परिस्थिति पर दृष्टि डालते हुए विचार करते हैं कि—अहो, अब मुझे वह अवसर भी कब प्राप्त होगा जब मैं ग्रंथाध्ययनादि परद्रव्योंके भरोसे

पर न रहकर, परिपूर्ण उदासीन भावमय उपेक्षा संयमको प्राप्त करते हुए, पूर्ण निराकुल होकर, अपने आपको केवल ज्ञायक अनुभव करनेमें समर्थ होऊंगा। वस्तुतः देखा जावे तो शरीर, वचन और मन भी मेरा स्वरूप नहीं हैं। ये सब मुझसे भिन्न हैं, इनके साथमें मेरा कोई संबंध नहीं है। न तो मैं इन सबका कारण ही हूँ, न करनेवाला ही हूँ और न करानेवाला ही हूँ, न मुझे इनमें किसी प्रकारकी अनुमति ही रखना ठीक है, क्योंकि ये सब—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥६९॥
णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥७०॥

शरीर वाङ् मनांसि स्युः पुद्गलद्रव्यकान्यहो।
भवन्ति परमाणूनां पिण्डरूपाण्यमूनि तु ॥६९॥
न तु पुद्गलरूपोऽहं पिण्डिताश्च न पुद्गलाः।
मयेतिस्यामहं देहो यतः कर्तास्य वा पुनः ॥७०॥

क्योंकि देह मन वाणी ये तो पुद्गलके ही हैं सारे।
उन उन पुद्गल वर्गणा बिना बने नहीं ये वेचारे।
पुद्गलमय मैं नहीं और पुद्गल है मेरे किये नहीं।
फिर कैसे मैं देहरूप या उसका कर्ता कहो सही ॥३५॥

सारांशः—माना कि उपादान रूपमें देह, मन और वाणी ये सब पुद्गलसे ही बने हैं। पुद्गल परमाणुओंका ही पिण्डरूपसे परिणमन हो करके ये सब सम्पन्न हुए हैं परन्तु पुद्गल परमाणुओंका पिण्डरूपसे परिणमन भी क्यों और कैसे होता है ? यह बताते हैं—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥७१॥
एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥७२॥

अप्रदेशोऽणुरेकाकी शब्दादित्वं न चाश्नुते ।
स्निग्धत्वेन रुक्षत्वेन संजुज्य स्कंधतां व्रजेत् ॥७१॥
स्निग्धता रुक्षता वाणा वारभ्यैकांशतः क्रमात् ।
अनन्तांशपर्यन्तं सा वर्द्धमानानुभूयते ॥७२॥

अणु है एक प्रदेश यद्यपि शब्दादि न हो पाता है ।
चिकनाई रूखाई द्वारा स्कंध किन्तु वन जाता है ॥
अणुके चिकनेपन रूखेपनका परिणमन हुआ करता ।
जो कि एकसे अनन्त तक अंशोंको क्रमसे है धरता ॥३६॥

सारांशः—परमाणु जबतक अकेला रहता है तबतक शब्दादिरूप स्कंधपनेको कभी भी प्राप्त नहीं होता है किन्तु अपने स्निग्धपन या रूक्षपनके द्वारा दूसरे परमाणुके साथ संयोग प्राप्त करता है तभी स्कंध बनता है । परमाणुकी स्निग्धता और रूक्षता भी परिणमनशील है । यह अपने एक अंशसे प्रारब्ध होकर एकैक अंशके हिसाबसे अनंतांश पर्यन्त वृद्धिगत होती रहती है । जब स्कंध योग्य स्निग्धता या रूक्षता होती है तभी परमाणु एक दूसरेके साथ बंधको प्राप्त होता है । बंधके योग्य स्निग्धता या रूक्षता भी कब कैसे होती है, यही आगे बता रहे हैं—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि बज्झन्ति हि आदिपरिहीणा ॥७३॥
णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥७४॥

द्व्यधिकेन भजेद्बंधमेकतोऽभ्यधिकांशवान् ।
रूक्षेण रूक्षः स्निग्धेन स्निग्धः स्निग्धेन रूक्षवाक् ॥७३॥
द्व्यंशिना चतुरंशीयः पञ्चांशी त्र्यंशिना समम् ।
अणुना अणुश्च स्कंधेन स्कंधः स्कंधोऽणुना पुनः ॥७४॥

एकसे अधिक अंशोंवाला दो अधिकांशोंवालेसे ।
रूखा रूखेसे चिकना चिकनेसे रूखा चिकनेसे ॥
द्व्यंशी चतुरंशीसे त्र्यंशी पंचांशीसे मिलता है ।
ऐसा वतलाते हैं गुरुजी जिनमें कोमल दिलता है ॥३७॥

सारांशः—परस्पर बंधको प्राप्त होनेवाले पुद्गलोंमें स्निग्धता या रूक्षताके अंश एकसे अधिक अर्थात् दो वगैरह अंश होने चाहिये। दोनोंमें समानांश नहीं होने चाहिए किंतु एकमें दूसरेसे अंश कम होने चाहिये, तभी उनका आपसमें बंध हो सकेगा। इन दोनोंमें से एक रूखा और दूसरा चिकना हो या दोनों रूखे हों अथवा दोनों ही चिकने हों तो भी इनका आपसमें बंध हो जावेगा अर्थात् दो अंशोंवाला चार अंशवालेके साथ मिल सकता है किन्तु एक अंशवाला जैसें दूसरोंके साथ नहीं मिल सकता वैसेही वह तीन अंशवालेके साथ भी नहीं मिल सकता है। बंध होनेमें दो अधिकांशवाला पुद्गल हीनांशवाले पुद्गलको अपने समान बना लेता है, यही बंध होनेका फल है। ऐसा ही तत्वार्थसूत्रमें भी बताया है कि 'वन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च'। ऐसा बंध—अणुके साथमें अणुका, अणुके साथमें स्कंधका और स्कंधके साथमें स्कंधका भी तथा अनेकोंका भी एक साथमें हो सकता है। इसप्रकार बंध होकर जो पुद्गल स्कंध बनते हैं, उनका परिणमन क्यों और कैसे होता है? यही अब बताते हैं—

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ॥७५॥
ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥७६॥

द्वयणुकाद्याः पुनः स्कंधा सूक्ष्माः स्थूला यथोचिताः।
परिणामेन जायन्ते स्वेनावन्यादिरूपतः ॥७५॥
सूक्ष्मैश्च वादरैरेवं कर्मायोग्यैश्च योग्यकैः।
प्रगाढं निचितो लोकः सर्वतः पुद्गलैरयम् ॥७६॥

द्वयणुकादि स्कंधोंका ऐसे सूक्ष्म और बादर जाति।
भूमि वारि पावक पवनतया परिणति होना नाना भाँति ॥
यों कर्मोंके अयोग्य अथवा योग्य पुद्गल स्कंधोंसे।
सारी दुनिया भरी सर्व जगह स्थूल सूक्ष्ममय धंधोंसे ॥३८॥

सारांशः—सूक्ष्म तथा स्थूलरूपमें परिणत हुए नाना आकारोंको धारण करनेवाले वे द्वयणुकादि स्कंध अपने अपने परिणमनके अनुसार

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु आदिके रूपमें अनेक प्रकारके परिवर्तन प्राप्त करते रहते हैं। इनमेंसे कितने ही तो ऐसे होते हैं जो कर्मरूपमें परिणत हो सकते हैं, इन्हें कार्माण वर्गणा कहते हैं। जो औदारिक आदि शरीररूप बन सकते हैं उन्हें आहारक वर्गणा कहते हैं। शब्दरूप होनेवाले पुद्‌गल स्कंधोंको भाषा वर्गणा कहते हैं। मनरूप होनेवालोंको मनोवर्गणा कहते हैं। इत्यादि। नाना जातिकी सभी तरहकी वर्गणायें लोकाकाशके हरएक प्रदेशमें ठसाठस भरी हुई हैं। न तो किसी जीवको इन्हें बनाना ही पड़ता है और न किसी दूसरी जगहसे लाना ही पड़ता है, यही बताते हैं—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥७७॥
ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥७८॥

कार्मण वर्गणाः प्राप्य विभावं देहधारिणः।
कर्मत्वं यान्ति तास्त्वङ्गी तथात्वं न नयत्ययम् ॥७७॥
अथ तान्येव कर्माणि शरीरत्व शरीरिणः।
भवान्तरं समासाद्य यान्तीति जिनदेशना ॥७८॥

चेतनके विभावको पाकर भी तो कार्मण पुद्‌गल ही।
कर्मरूप होते हैं क्यों फिर कर्ता उसका जीव सही ॥
कर्मरूप परिणत पुद्‌गल ही जन्मान्तरमें देह बने।
अतः देहका कर्त्ता भी न जीवको माना श्रीजिनने ॥३६॥

सारांशः—ऊपर बताया गया है कि अपने अपने स्निग्ध रूक्ष परिणमनके अनुसार तत्तत्पुद्‌गल वर्गणायें बनती रहती हैं। जीवका उनमें कोई कार्य नहीं होता है। ऐसा ही यहाँ समझा रहे हैं। कार्माण वर्गणायें कर्मरूपताको प्राप्त होकर जीवके साथ बंधको प्राप्त होती हैं। वे ही जीवके रागद्वेष भावोंका निमित्त पाकर अपने आप ही तादृशपनको स्वीकार कर लेती हैं। जीवका इनपर स्वतंत्र रूपसे कोई उपाय नहीं चलता है। कर्मरूपको प्राप्त हुई कर्म वर्गणायें ही आगे भवान्तरमें

जीवके तादृश शरीरकी सम्पादिका बनती हैं। जीव इनमें कुछ भी परिवर्तन अपनी स्वतंत्रतासे नहीं कर सकता है।

मानलो कि एक मनुष्यने अपनी भुज्यमान मनुष्यायुकी त्रिवलिके अवसर पर किसी निरपराध जीवको मारनेका या चोरी, जारी, चुगलखोरी करनेका विचार किया तो इसके अवश्य ही अशुभ नामकर्म आदिके साथ साथ नरकायुका बंध होगा। आयुके अन्तमें यह जीव नरकमें जाकर नारकीय शरीरको धारण किये हुए वहाँ अनेकप्रकारके मारण ताडन शूलारोपण आदिके कष्ट पाये बिना न रहेगा।

यह जीव उपर्युक्त बुरे विचार तो करता रहे और चाहे कि मेरें पापकर्मका बंध न हो, मुझे नरकमें न जाना पड़े तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता है। ऐसी अवस्थामें कर्मोंके प्रति एवं शरीरके प्रति भी जीव का कर्तापन कैसे संभव है क्योंकि कर्ता तो स्वतंत्र होता है। अपनी इच्छानुसार कार्य करता है, ऐसा यहाँ कुछ भी नहीं हो सकता है। अतः मानना ही चाहिए कि कर्म तो कार्माण वर्गणाओंका परिणमन मात्र है और शरीर आहारक वर्गणाओंका परिणमन है, पौद्गलिक है, यही आगे बताते हैं—

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥७६॥
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥८०॥

औदारिको वैक्रियक आहारकश्च तैजसः ।
कार्मणोऽपि पुद्गलाख्य पर्यायो देह इष्यते ॥७९॥
जीवो रूपादितः शून्योऽप्यव्यक्त शब्दवर्जितः ।
चैतन्यवानथालिंग-ग्राह्यश्चानियतस्थितिः ॥८०॥

औदारिक वैक्रियक तथा आहारक तैजस कार्मण भी ।
ये पांचों ही देह सदा पुद्गलके द्वारा बनें सभी ॥
इन्द्रियसे न ग्रहण योग्य यह स्वयं अरूपी चेतन है ।
शब्दशून्य बोधस्वभाव जो कभी न एकाकार रहे ॥४०॥

सारांशः—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माणके भेदसे शरीर पाँच प्रकारका होता है। यह पौद्गलिक है और पुद्गल द्रव्यका ही विकार है। जब आत्मा इन पांचों ही शरीरोंसे रहित हो जाता है तब न तो यह रूपरसादियुक्त रहता है, न इसमें किसीप्रकारका शब्द ही होता है, न कोई इसका एक आकार ही नियत रहता है, न इसको हम लोग देख ही सकते हैं और न हम इसे किसी विशेष चिह्नके द्वारा ही जान सकते हैं। यह तो केवल एक चैतन्यका पुंज मात्र शाश्वत द्रव्य है, इतना ही हम कह सकते हैं। यहां शंका होती है कि फिर यह आत्मा बँधा हुआ क्यों है? इसका उत्तर प्रश्नपूर्वक आगे दे रहे हैं—

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध पोग्गलं कम्मं ॥८१॥
रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥८२॥

मूर्तिमान् पुद्गलः स्पर्शैरेति बन्धं परेण सह।
कुतोऽन्यथा स्वभावोऽयं कर्मबध्नाति चेतनः ॥८१॥
आत्मसात् कुरुते रूपादीनि ज्ञानेन चेतनः।
बालः क्रीडनकेनेव तेन बन्धमुपैति सः ॥८२॥

रूपी जो पुद्गल अपने रूक्षादि गुणोंसे बंध धरे।
किन्तु अरूपी चेतनमें क्यों बंध कथा अवकाश करे॥
तो इसका उत्तर कि जीव यह रूपादिकमय भाव धरे।
अपने इसीलिए तन्मय हो बंध सदा स्वीकार करे ॥४१॥

सारांशः—एक बच्चा किसी काष्ठ आदिके खिलौनेको देखकर उसे सुन्दर समझता हुआ अपने हाथमें पकड़े रहता है। यदि वह फूट जावे या विगड़ जावे तो रोने लगता है। किसी भी प्रकारसे उसका अभाव होजाने पर दुखी होता है। इसीप्रकार यह सच्चिदानंद आत्मा भी इन मूर्तिक पर पदार्थोंको सदासे ही अपने भावोंमें अपनाये हुए है अतः अपने भावोंके द्वारा ही यह उनके साथ बँधा हुआ है। इसीको आगे स्पष्ट कर रहे हैं—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विषये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥८३॥
भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये ।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥८४॥

विषयान् प्राप्य सम्मूढो रज्यते द्वेष्टि तेष्वसौ ।
उपयोगमयो जीवस्सम्बद्धो भवतीह तैः ॥८३॥
विषयं येन भावेन प्राप्त जानाति पश्यति ।
रज्यतेऽथ च तेनैव कर्म बध्नाति देहवान् ॥८४॥

विषयोंमें उपयुक्त मोहसे रागी द्वेषी होता है ।
इसीलिये इस चेतनमें बंधप्रयोग समझोता है ॥
प्राप्त विषयको अनुभव करता हुआ विकारी बना जहां ।
श्रीजिन कहते हैं कि कर्मबंध तभी फिर हुआ वहाँ ॥४२॥

सारांशः—देखो, एक मनुष्य जिनको अपना परिकर मानता है, जिनके साथ मिलकर रहता है फिर भी अपने व्यक्तित्वमें उनसे सर्वथा ही भिन्न होता है । ऐसा होने पर भी वह कहता है कि मैं इनमें फँसा हुआ हूँ, इन्हें छोड़कर मैं कैसे और कहाँ जासकता हूँ । परस्परके लौकिक संबंधोंकी अपेक्षासे परिवारवाले भी कह देते हैं कि ठीक ही तो है, यदि तुम जाना भी चाहो तो हम लोग तुम्हें जाने नहीं देंगे । यही दशा इस संसारी जीवकी है । यह भी बाह्य विषयोंमें संबंध करके फँसा रहता है इसीलिए कर्माधीन बना रहता है । मतलब यह है कि जीवके रागद्वेषभावोंके कारणसे कर्मोंका बंध होरहा है । यह बंध तीन तरहका होता है । १ केवल पुद्गलका, २ केवल जीवका और ३ जीव तथा पुद्गलका । यही आगे बताते हैं—

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहिं ।
अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो ॥८५॥
सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पुग्गला काया ।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति य जंति बज्झंति ॥८६॥

स्पर्शाख्येन यथाणूनां जीवानां च रागादिना ।
द्वयोर्मिथोऽवगाहेन बन्धः सम्भवतीत्यसौ ॥८५॥
प्रदेशेषु च जीवस्य पुद्गलानां च तादृशाम् ।
स्पन्दनेन प्रवेशोऽस्तु निवासस्तु कषायतः ॥८६॥

स्पर्शभावसे पुद्गलमें रागादि भावसे चेतनमें ।
एकमेकपनसे प्रबंध होता है चेतन पुद्गलमें ॥
स्पन्दभावसे इस चेतनके देशोमें मिल जाती है ।
कर्मवर्गणा मोहभावसे किन्तु चिपकने पाती है ॥४३॥

सारांशः—पुद्गलका पुद्गलके साथमें जो संबंध होता है, वह उसके स्निग्धत्व और रूक्षत्वरूप स्पर्शको लेकर संस्पर्शात्मक सम्बन्ध होता है। जीवका जीवके साथमें जो संबंध होता है, वह केवल रागद्वेष-मय मोहभावके द्वारा संभवनात्मक संवन्ध होता है। यह पति पत्नी, पिता पुत्रादिकके रूपमें अनेक प्रकारका होता है। जीवके साथ कार्माण पुद्गलोंका जो सम्बन्ध होता है, वह परस्पर संश्लेषात्मक एकावगाहरूप होता है। यह दो प्रकारका होता है—

१ परिस्पन्दनरूपयोग भावके द्वारा जीवके प्रदेशोंमें कर्म वर्गणायें प्रवेश पाती हैं। २ उस जीवके कषायभावकी तीव्रता और मन्दताको लेकर वे वहाँ पर कर्मरूपमें ठहरी रहती हैं। फिर उदयकालमें इस जीवको अपना फल दिखलाती हुई वे आगेके लिए कर्मबन्धके कारणभूत रागद्वेषभावको उत्पन्न करके निर्जीर्ण हो जाती हैं। मतलब यह है कि कर्माधीन होकर जीव जबतक रागद्वेष करता रहता है तबतक नूतन कर्मोंका बन्ध करता रहता है। यही बताते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥८७॥
परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥८८॥

रागी बध्नाति कर्माणि मुच्यतेतैर्विरागवान् ।
संसाधकतमत्वेन रागो बंधस्य कारणम् ॥८७॥
बंधकृद्यो विकारः स रागरुड्मोह भेदवान् ।
रागः शुभोऽशुभश्चस्यादशुभं हि परद्वयम् ॥८८॥

इस सबका सारांश यही निश्चयसे ठीक निखरता है।
रागी जीव बंध करता है किन्तु विरागी हरता है ॥
बंधक परिणामोंकी धारा तीन तरहकी बतलाई।
रोष मोह तो अशुभराग शुभ अशुभ हुआ करता भाई ॥४४॥

सारांशः—आत्माको बंधनमें जकड़ देनेवाला आत्माका विकार भाव है। यह राग, द्वेष और मोहके भेदसे तीन प्रकारका है। दूसरोंके साथ अनुकूलताका अनुभव करना राग है। दूसरोंके प्रति प्रतिकूलता रखना द्वेष है। दूसरोंकी उलझनमें फँसकर अपने आपको भी भूल जाना मोह है। इनमेंसे मोह और द्वेष ये दोनों तो अशुभ ही होते हैं, सर्वथा हानिकारक हैं क्योंकि ये विप्लव फैलानेवाले हैं।

राग भी यदि अपनी इन्द्रियोंके संतर्पणरूप दुर्वासनाको ही लेकर होता है तब तो वह भी अशुभ ही होता है किन्तु धर्मभावनाको लक्ष्यमें रख कर प्रवृत्त होनेवाला राग शुभ होता है क्योंकि यह निर्विकारताके लिए किया जाता है। फिर भी स्वयं तो विकारांश ही है, तत्कालमें तो वन्धरूप ही होता है, स्वस्थतासे दूर ही रहता है। यही आगे बताते हैं—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥८९॥
भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंहो अण्णो ॥९०॥

परोपकारः पुण्याय पापायान्यविनिग्रहः ।
शुभोऽशुभः क्रमाद्दुःख(कर्म)क्षयायौदास्यमिष्यते ॥८९॥
पृथिवीत्यादिनामानः स्थावराः पंचधोदिताः ।
त्रसाश्च जीवकाया ये जीवादन्या यथार्थतः ॥९०॥

पराधीन परिणाम शुभाशुभ पुण्यपापके कारक हो ।
आत्माधीन विचार जीवके बंधविदारक तथा अहो ॥
पंचस्थावर और एक जंगम षट्काय बताई है ।
जीवकी कि जो नहीं जीवमय इससे विभिन्न गाई है ॥४५॥

सारांशः—यहाँ ग्रंथकार सिद्धोंके अतिरिक्त, षट् कायिक संसारी जीवोंको पर शब्दसे पुकार रहे हैं क्योंकि ये अपने सहजरूपमें न रहकर और ही रूप बने हुए हैं। इन षट्कायके जीवोंकी रक्षा हो, कोई भी जीव किसी भी तरहसे दुखी न रहे, इसप्रकारके सद्विचारका नाम ही शुभ भाव है। यह जीवके लिये पुण्यबंध कारक है।

मुझे और लोगोंकी चिन्तासे क्या लाभ है, ये सब चाहे जीवित रहें या मर जावें, सुखी हों या दुखी हों, कैसे भी रहें, मुझे इनसे कोई भी प्रयोजन नहीं है। मुझे तो अपने आपको कभी कष्ट न होना चाहिए, खूब खाऊं, खूब पीऊं और निश्चिन्त होकर सोजाऊं, इस प्रकारके पर पीड़ा कारक विचारका नाम अशुभ भाव है। यह पापबंध कारक है।

उपर्युक्त दोनों ही प्रकारके विचारोंसे दूर होकर परमात्म चिन्तनमें निमग्न रहनेरूप उदासीनभाव वीतराग भाव है। यह पुण्य और पाप दोनों ही तरहके बन्धसे रहित होकर आत्माको पूर्ण शांतिदायक होता है। अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि जीव कर्तव्य विमूढ़ होता है। यह कर्तव्यको भूलकर, अकर्तव्यको ही कर्तव्य मान लेता है अथवा दोनोंको ही समान समझता है या दोनोंके ही विषयमें कुछ भी विचार न करके आलसी बना रहता है।

चतुर्थ गुणस्थानमें जब सम्यग्दर्शन होता है तब अशुभसे हटकर शुभोपयोग पर आता है। यह अकर्तव्यको अनुचित मानकर कर्त्तव्य करनेके लिए उत्कंठित होजाता है। उसे करनेके लिए कटिबद्ध होकर उत्तरोत्तर उसमें अधिकाधिक आनन्द मानता है। शुभसे शुभतर और शुभतम उपयोगवाला बन जाता है। इसप्रकार कृत कर्तव्य होते हुए यही आत्मा अन्तमें स्वस्थ हो जाता है। इसकी उस स्वस्थताका नाम ही शुद्धोपयोग है।

शङ्काः—यहाँ यह बतलाया गया है कि शुभोपयोग रागरूप ही होता है, इसमें द्वेष नहीं हुआ करता है। यह बात कुछ समझमें कम आती है क्योंकि राग और द्वेष ये दोनों तो साथ साथ रहनेवाले हैं। जहाँ किसी एक वस्तुसे राग होगा तो वहाँ उसकी प्रतिपक्षभूत दूसरी वस्तुसे द्वेष भी अवश्य ही होगा। जैसे एक मनुष्य मीठेको अच्छा मानता है तब फीकेको बुरा भी मानता है, ऐसा ही सर्वत्र देखनेमें आता है। शुभोपयोग और अशुभोपयोगमें तो अन्तर होना चाहिये तो इतना ही कि–मन्द रागद्वेषका नाम शुभोपयोग और तीव्र राग-द्वेषका नाम अशुभोपयोग।

उत्तरः—राग और द्वेष ये दोनों एक आत्मामें एकसाथ कभी नहीं हो सकते हैं। राग और द्वेष ये दोनों प्रकाश और अंधकारकी तरह परस्पर विरोधी भाव हैं। राग द्वेष ही नहीं किन्तु रागके भेद, माया और लोभ तथा द्वेषके भेद, क्रोध और मान भी दोनों एक समयमें एक आत्माके नहीं हुआ करते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारोंमें से एक समयमें एक आत्माके एक ही भाव होता है, ऐसा जैनसिद्धांतका कथन है।

राग द्वेष रूप कषाय भावकी तीव्रता और मन्दताका नाम यदि शुभ और अशुभोपयोग कहा जावे तो छठे गुणस्थानकी अपेक्षासे पंचम गुणस्थान और पंचम गुणस्थानकी अपेक्षासे चतुर्थ गुणस्थान अशुभोपयोग कहा जाना चाहिए। इसीप्रकार मिथ्यादृष्टि नामके गुणस्थानसे मिश्र गुणस्थान और मिश्रसे सासादन गुणस्थान शुभोपयोगरूप माना जाना चाहिए। ऐसा करनेसे तो फिर शुभोपयोग और अशुभोपयोगकी व्यवस्था ही नहीं रहेगी। यह तो ऐसी ही बात होगी जैसे एकने कहा कि कम काला सो पीला और अधिक पीला सो काला, परन्तु हमारे श्रद्धेय आचार्य महोदयोंका तो ऐसा अभिमत नहीं रहा है।

जैनाचार्योंका कथन है कि सम्यग्दर्शनका न होना अशुभोपयोग है। सम्यग्दर्शन होकर भी चारित्रमोहका उदय होना शुभोपयोग है और चारित्रमोहका भी उदय न रहना शुद्धोपयोग है। ऐसा समझना

चाहिये। यहाँ ग्रंथकार शुभोपयोग और अशुभोपयोगकी ही बात न कहकर शुभ, अशुभ और शुद्ध भावोंके विषयमें कह रहे हैं।

आचार्य महाराज कहते हैं कि पर जीवोंकी विराधनारूप हिंसादि परिणामोंका होना अशुभ है। यह मिथ्यादृष्टि और सम्यक्दृष्टि दोनोंके ही असाता वेदनीयादि पापबंधको करनेवाला होता है। जीवोंकी रक्षारूप दयादि भावोंका होना शुभ है। यह सम्यग्दृष्टिकी तरह मिथ्यादृष्टि जीवके भी होता है। यह साता वेदनीयादि पुण्यबन्ध कारक होता है। इन अशुभ और शुभ दोनों भावोंसे रहित परनिरपेक्षभाव होता है, वह शुद्धभाव होता है। यह किसी भी प्रकारका बन्ध न करके आत्माको स्वतंत्र रखनेवाला होता है—

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥९१॥
कुव्वं सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥९२॥

चेतनोऽहं जडं चाङ्ग—मितीदं यो न पश्यति।
अहमेवेदमेतच्च ममेत्यंचति मोहतः ॥९१॥
स्वं कुर्वन् भावमात्माऽयं कर्ता भावस्य तस्य तु।
पौद्गलिक विकाराणां कर्ता नायं निदानतः ॥९२॥

मैं हूँ चेतन देह अचेतन ऐसा जिसे विचार नहीं।
अहंकार ममकार मोहवश होकर करता वहाँ वही॥
अपने भले बुरे भावोंका तो करनेवाला जन्तु।
पुद्गलके परिणमनोंका भी वह कैसा कर्ता किन्तु ॥४६॥

सारांशः—मैं चेतन हूँ, सदा ज्ञायक स्वरूप हूँ और यह देह जड़ है, पुद्गल परमाणुओंसे बना हुआ है। ज्ञान भावसे विहीन है, ज्ञेय मात्र है, मेरेसे भिन्न है, नाश होनेवाला है। मैं अविनाशी हूँ। इसतरह से जो मनुष्य अपने आपको इस शरीरसे भिन्न कोई वस्तु नहीं मानता है और न उसे जाननेका प्रयत्न ही करता है, वह मोही जीव होता है।

यह मोहके वश होकर भुलावेमें आकर मैं मनुष्य हूँ, बलवान् हूँ, राजा हूँ, मेरी समानता कौन कर सकता है। मैं दीन दुखी दुर्बल हूँ, मैं क्या कर सकता हूँ इत्यादि रूपसे अहंकार भावको करता रहता है। यह मेरी स्त्री, बड़ी पतिव्रता और सुन्दरी है, यह मेरा पुत्र बड़ा सुशील और समझदार है। ये सब सदा मेरी आज्ञानुसार चलनेवाले मेरे सेवक हैं। यह मेरा मकान है। ये सब गायें, भैंसें, बैल, घोड़ा वगैरह मेरे कामकी वस्तुएँ हैं। इनकी रक्षा करना मेरा काम है। जो इन्हें बिगाड़नेका प्रयत्न करता है, वह मेरा शत्रु है। उसे मैं अवश्य मारूंगा। जो इन कार्योंके सम्पादनमें मेरी सहायत्ता करता है, वह मेरा मित्र है। उसके लिए मैं भी सदा प्राण देनेको तैयार हूँ, इत्यादि ममकार भावोंको भी करता रहता है।

जब जैसा चाहे वैसे ही भाव करके उनसे सुखी और दुखी होता रहता है अतः अपने इन भले और बुरे विचारोंका करनेवाला तो यह जीव ही है परन्तु इनके अतिरिक्त इन दृश्यमान पुद्गल परिणमनोंका भी कोई भी जीव अपनी इच्छानुसार कुछ कर सकता हो, ऐसी बात भी कभी संभव नहीं है। जब दृश्यमान इन स्थूल पुद्गल परिणमनोंको ही यथेष्ट बदलनेमें पूर्ण समर्थ नहीं है तब फिर स्वयंके सूक्ष्म पुद्गल (कार्माण वर्गणाएं)के विषयमें तो केवल अपने विचारोंके अतिरिक्त कुछ कर ही कैसे सकता है, क्योंकि—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥९३॥
स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥९४॥

जीवः सदा देहगोऽपि कर्माणि किमु शक्नुते।
ग्रहीतुं वा परित्यक्तुं यथेच्छं कारकोऽस्त्वतः ॥९३॥
विकुर्वंश्चात्मनो भावं संसारी किल कर्मभिः।
आदीयेत विमुच्येत तैः कदेति नवेत्यसौ ॥९४॥

जीव पुद्गलोंमें रहकर भी उन्हें न पकड़े वा छोड़े।
उपादानरूपसे वहाँ वह कर्तापनको कव जोड़े ॥
किन्तु निमित्तरूपमें चेतन कर्ता है यह कर्मोंका ।
लेता भी है और छोड़ता भी है उनको जब मोका ॥४७॥

सारांशः—शरीर सहित होते हुए भी यह आत्मा जिसप्रकार घड़ा बनानेकी इच्छा करता है तो उसके लिए खान परसे मिट्टी लाता है। उसे पानीमें गोंदकर चाक पर भी चढाता है, उसे हाथसे हिलाता है, ऐसे उसे तैयार करके रखता है। इसप्रकार विचारपूर्वक क्रिया करता है अतः घड़ेका कर्ता कहलाता है, परन्तु इसके कर्म कहे जानेवाले पुद्गलों को यह अपने बुद्धिगम्य रूपसे न तो कहींसे कभी ग्रहण ही कर सकता है और न उन्हें दूर ही हटा सकता है जिससे यह उनका कर्ता कहा जावे। यह तो अपने भावोंको विगाड़ सुधार सकता है। इतना ही इसका काम है। फिर इस पर कर्म कब और कैसे आते हैं तथा कब और कैसे चले जाते हैं, यह वात संसारी अज्ञानी जीवके ज्ञानसे वाहरकी है। यदि यह जानना चाहे तो केवल इतना ही जान सकता है कि—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ॥९५॥
सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥९६॥

ज्ञातुमर्हति लिप्येत ज्ञानवृत्यादि कर्मभिः ।
रागरोषावितोऽभीष्टेऽनिष्टेऽयं कुरुते यदा ॥९५॥
यत आगम इत्युक्तं कषायी चेच्छरीरवान् ।
भवेत्तदैष बध्येत सहसा कर्मपांशुभिः ॥९६॥

जबकि जीव यह राग द्वेष युत इष्टानिष्ट समझता है।
ज्ञानावरणादिकमय होकर कर्म इसे तव भजता है ॥
रागरोष या मोहभावसे जवकि कषायी वनता है।
कर्मरेणुसे तब लिपता है ऐसी जिनशासनता है ॥४८॥

सारांश:—यह अल्पज्ञ संसारी जीव यदि कर्मोंके विषयमें जानना चाहे तो इसके पूर्व आचार्य यह अंकित करके रख गये हैं कि—जब यह जीव कषायवान् होता है तब कर्मबंध करता है, आदि। इसके आधारसे यह इतना मान सकता है कि मैं जैसे अपने भले या बुरे परिणाम करता हूँ या करूंगा वैसे ही मेरे कर्म बनते रहेंगे और ये मुझे दुखी करते रहेंगे। संसारकी वस्तुओंमें इष्ट अनिष्ट मान्यताके कारण ही मैं अनेक प्रकारके कर्मोंके फंदेमें फँस रहा हूँ। अतः जहाँ तक हो सके मैं मेरे राग-द्वेषरूप परिणामों पर ही विजय प्राप्त करूं, इन्हें न होने दूं यही इसका फलितार्थ है। इसीका उपसंहार आगे करते हैं—

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो ।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥९७॥
ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेदं ति देहदविणेसु ।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥९८॥

यतिभ्योऽर्हद्भिरित्युक्तं बंधस्य परिवर्णनम् ।
ज्ञानावृत्यादि कर्माणि कष्टाय व्यवहारिणः ॥९७॥
अहं ममेदमित्येतन्ममत्वं न जहाति यः ।
देह वित्तादिषून्मार्गं मुनिराप्त्वा प्रणश्यति ॥९८॥

निश्चयसे तो कर्मराग ही जिसे जीव यह करता है।
कर्मपुद्गलोंका माना व्यवहाररूपमें भर्ता है ॥
तन धनादिके अहंकार ममकार भावको नहीं हरे।
तो वह साधुपनेको तजकर उत्पथको स्वीकार करे ॥४९॥

सारांश:—एक मंदाग्निवाले रोगीको देखकर वैद्यने कहा कि तुमने कोई मैदाकी चीज खाई है, वह पेटमें नहीं पची, इसलिये पेटमें दर्द हो रहा है। वह निकले तब ठीक हो। इस पर रोगी बोला कि ठीक है। आज मेरे यहाँ मैदाकी पपड़ी बनी थी। उसे देखकर मेरा मन चल गया तब मैं विवश होगया, मैं क्या करूं? यदि उस समय जरासा मनको रोक लेता तो ऐसा अवसर क्यों आता? अब मैदा मेरे लिये यदि

हानिप्रद है तो आगेके लिये उसका त्याग ही कर देता हूँ। कभी मैदाकी चीज खानेका विचार ही नहीं करूंगा।

वैद्यके कहनेकी तरह व्यवहार नयकी दृष्टिमें आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्त्ता है। इन्हींके वशमें होकर यह कष्ट भोग रहा है। यदि निश्चयसे देखा जावे तब तो उस रोगीके मनचलेपनकी तरह इसकी मोह ममता ही इसे दुःख दे रही है। इसे करना ही अनुचित है। ऐसा सोचकर यति लोग देह और धनादिमें रहनेवाले अहंकार ममकाररूप मोह ममताको ही जीतनेका उपाय करते हैं। गृहस्थोंकी बात दूसरी है।

गृहस्थ जीवन तो मोहममतामय ही होता है परन्तु मुनि होकर भी जो मोहममताको करता रहता है, उससे दूर नहीं होता है और न दूर होनेका उपाय करता है प्रत्युत मेरे तेरेपनमें ही फँसता रहता है तो फिर वह गृहस्थोंसे भी निकृष्ट है। नीतिपथको छोड़कर अन्यायमार्गको अपनाता है एवं भ्रष्टसे भी भ्रष्ट होजाता है। अतः मुनि यति कहलाने वालेको तो निरन्तर आगे लिखे अनुसार विचार करते रहना चाहिए—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥९९॥
एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१००॥

नान्येषामहमन्येऽपि न मे ज्ञानात्मकोऽस्म्यहम्।
इत्येकाग्रमना य स्या-दात्मा ध्याता स इष्यते ॥९९॥
ज्ञानदृग्रूपमचल - मतीन्द्रियमनाकुलम्।
शाश्वतं शुद्धमात्मानं भावयेयमहं कदा ॥१००॥

मैं तो ज्ञायक हूँ मेरा पर परका मैं भी कभी नहीं।
यों एकाग्र बने तब ही होता है आत्मज्ञान सही ॥
अविकल अचल परालम्बरहित आत्माको कब पाऊंगा।
शुद्धबोध दर्शनवाला मैं अतीन्द्रिय कहा जाऊंगा ॥५०॥

सारांशः—प्रथम तो कोई भी किसीका हो ही नहीं सकता। सभी पदार्थ अपनी अपनी सत्ताको लिये हुए सदासे भिन्न भिन्न ही हैं। फिर

भी संसारी जीव जिनसे अपना संबंध बनाये रहता है, वह तो उनको अपना कहे, ऐसा कुछ समयके लिए किसी भी तरह माना जा सकता है परन्तु मैंने यह समझ लिया है कि इन संसारके पदार्थोंमें से कोई भी एक मेरा नहीं है और न मैं ही किसी एकका हूँ। ऐसा समझकर जब संसारके लोगोंसे संबंध ही छोड़ रखा है तब मेरा कौन और मैं किसका कहा जा सकता हूँ।

अब भी मैं किसी एकको अपना समझकर उसे ग्रहण करनेका प्रयत्न करूं तो यह की हुई वमन (उलटी)को चाटनेके समान अत्यन्त घृणित है। महात्माओंकी दृष्टिमें ही नहीं, इन दीन हीन संसारके लोगों की दृष्टिमें भी बुरी बात होजाती है। अतः मुझे तो यह सदाके लिए याद रहना चाहिये कि मेरा अब किसीसे भी कोई संबंध नहीं रहा है। अब मैं किसी दूसरेका आश्रय लूँ या उसे याद करूं तो यह मेरी बड़ी भूल है। औरोंकी तो बात ही क्या? यह शरीर भी मेरा नहीं है, जिसमें मैं अभी रहता हूँ, मैं ज्ञायक हूँ और यह जड़ है अतः मेरेसे सर्वथा भिन्न है।

जब यह शरीर ही भिन्न है तब शेष सब पदार्थ तो स्पष्टरूपमें ही मेरेसे भिन्न हैं। यदि इन सबके साथ मेरा कोई संबंध है तो केवल इतना ही है कि ये सब ज्ञेय हैं और मैं इनका ज्ञाता हूँ। फिर भी मैं ऐसा मूर्ख बना हुआ हूँ कि इनमेंसे किसीको अच्छा और किसीको बुरा मानकर उलझनमें पड़ रहा हूँ। वह दिन कब आवेगा जब मैं इस उलझनसे छूटकर तथा अपने उपयोगको निर्मल बनाकर अपने आपको शुद्ध ज्ञान दर्शनमय इन्द्रियातीत रूपसे स्पष्ट अनुभव कर सकूँगा। इन्द्रिय गम्य देहादिक सभी पदार्थ आत्मासे भिन्न और क्षणिक हैं। मेरी आत्मा शाश्वत अमूर्तिक ज्ञानमय है। ऐसा ही आगे बताते हैं—

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१०१॥
जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥१०२॥

देहं धनं सुखं मित्रं तथाऽन्यं शत्रुतादिकम् ।
अध्रुवमेव जीवस्य ज्ञानभावो हि स ध्रुवः ॥१०१॥
एवं ज्ञात्वा विशुद्धात्मा मुनिर्वा गृहि एव वा ।
ध्यायेद्यः परमात्मानं स मोहाद्रहितो भवेत् ॥१०२॥

देह और धन शत्रु मित्र ये दुख सुख नहीं मेरे हैं ।
मैं तो हूँ उपयोगरूपनिश्चल ये विचल घनेरे हैं ॥
यों विश्वासयुक्त होकर जो परमात्माको याद करे ।
यति हो वा गृहस्थ हो वह ही झटपट दुरभिनिवेश हरे ॥५१॥

सारांशः—जीवके साथमें रहनेवाला यह देह और देहके निमित्तको पाकर होनेवाले धन, मकान, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु, सुख और दुःख इत्यादि सब ही पदार्थ क्षणिक हैं। अपने समय पर नष्ट होनेवाले हैं किन्तु इनको अनुभवमें लानेवाला आत्माराम शाश्वत है, सदा रहनेवाला है। यह किसी भी भवान्तरसे आकर इस शरीरको धारण किये हुए है और इसे भी छोड़कर दूसरा शरीर धारण करेगा। फिर इससे भी दूसरा इसप्रकार यह परम्परा चलती रहेगी जबतक यह आत्मा उपर्युक्त देह तथा धनादिमें अहंकार ममकार करता रहेगा।

जो लोग अपनी आत्मामें रहनेवाले अहंकार ममकार भावोंका शम और दमके द्वारा अत्यन्त अभाव कर चुके हैं वे सब परमात्मा बन चुके हैं। जन्म और मरणसे रहित होकर शाश्वत सत्य पूर्ण ज्ञानके धारक बन गये हैं। इसप्रकारके विचार द्वारा अपनी आत्मामें विशुद्धता, कोमलताको प्राप्त करनेवाला जीव भले ही गृहत्यागी मुनि हो या गृहस्थ हो वह उस परमात्माका ध्यान करनेसे, उसे अपने हृदयमें स्वीकार करनेसे मोह (मिथ्यादर्शन)का नाश कर सकता है। मोहके नाश करने का एक यही मार्ग है और इसके नाश होजाने पर—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१०३॥
जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१०४॥

मोहे नष्टे मुनिर्भूत्वा रागद्वेषौ च नाशयन् ।
समानः सुखदुःखस्स्यात् स हि शर्माक्षयं श्रयेत् ॥१०३॥
दुरभिप्रायहीनोऽपि विहाय विषयान्मनः ।
न गोपयेच्चेत्किं ध्याये-च्छुद्धमात्मानमेषकः ॥१०४॥
मूढभावसे रहित हुआ फिर साधुपनेको अपनावे ।
विरागतासे समसुखदुःखात्मक हो अक्षयपद पावे ॥
अमूढ मानव सब विषयोंसे दूर हुआ मनको रोके ।
ऐसे शुद्ध बने विलीन वह आत्मभावनामें होके ॥५२॥

सारांशः—उपर्युक्त प्रकारसे श्री अरहंत भगवान् पर विश्वास करके मोहका अभाव होकर मनुष्यका मन ठीक होजाने पर शेष बचे अपने रागद्वेषरूप कषायांशको नष्ट करनेके लिये उसे बाह्य विषयोंसे दूर हो जानेकी आवश्यकता होती है। इसलिये वह गृहस्थाश्रमका त्याग करके सांसारिक सुख और दुःखमें समान बुद्धि रखनेवाला मुनि बनकर अपनी वीतरागताके द्वारा वह कभी भी नष्ट न होनेवाले वास्तविक आत्मसमुत्थ अतीन्द्रिय सुखको भी प्राप्त कर लेता है। मतलब यह है कि दुरभिप्रायका नाश करके सम्यग्दृष्टि होजाने पर भी जबतक मुनि न बने तबतक शुद्धात्माका ध्यान नहीं बन सकता है। गृहस्थ दशामें मनुष्यका मन विषयोंमें फँसा रहता है। वह राग द्वेषके रंगमें रँगा रहता है। ऐसी दशामें आत्माको शुद्ध व स्वच्छ कैसे जान सकता है? रंगीन चश्मेके द्वारा देखने पर श्वेत वस्त्र भी रंगीन ही दिखता है। इसीप्रकार विषयानुरागरंजित चंचल मनके द्वारा निर्विकल्प आत्माका भान होना भी असंभव होता है।

शङ्काः—नित्य निरंजन सिद्ध समान, मैं हूँ सदा ज्ञानकी खान। मुझमें नहीं राग या रोष, मैं तो हूँ समताका कोष ॥ इत्यादि रूपसे गृहस्थ लोग भी अपनी शुद्धात्माका ध्यान किया करते हैं सो क्या यह झूठा है?

उत्तरः—अगर उनका उपर्युक्त विचार वर्तमान अवस्थाकी अपेक्षा से है तब तो बिलकुल ही झूठा है। पागलके प्रलापकी सदृश है। यदि आत्मद्रव्यकी अपेक्षासे अपने आपको भविष्यत् कालमें सुधारनेके लिए

ऐसा सोचा जाता है तो ठीक ही है। फिर भी यह उनके द्वारा किया हुआ शुद्धात्म ध्यान नहीं कहा जा सकता है। यह तो शुद्धात्मभावना अर्थात् अपने आपके शुद्ध हो सकने पर विश्वास रखते हुए उसके विषय में विचार मात्र होता है। ध्यान तो आत्माके उपयोगका तदनुकूल परिणमन होजाना माना गया है।

इसको समझनेके लिये मानलो कि एक मनुष्यका परम प्यारा पुत्र खोगया। वह सोचता है कि मेरा पुत्र बड़ा हृष्ट पुष्ट था, सुन्दर सुडौल था, बहुत ही समझदार था और आज्ञाकारी था इत्यादि। फिर इसी विचार में तन्मय होकर कुछ देरमें वह कहने लगता है कि यह आगया, आओ भैय्या ! कहाँ चले गये थे ? अर्थात् उसको वही वह दिखने लगता है। उसकी मूर्तिसी बनकर उसके सम्मुख आ खड़ी हुई प्रतीत होती है, इस प्रकारके उपयोगकी एकाग्रताका नाम ध्यान है।

ऐसा ध्यान शुद्धात्माके विषयमें सांसारिक झंझटोंमें फँसे हुए राग द्वेषयुक्त जीवके कभी नहीं हो सकता है। इसप्रकारकी अपने आपमें उपयोगकी एकता हुए बिना, आत्माके अनादिकालसे लगे हुए कर्मोका बंधन कभी शिथिल नहीं हो सकता है। इस पर कुछ प्रश्न और उत्तर आगे बताये जाते हैं—

णिहदघणघादिकम्मो पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥१०५॥
सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥१०६॥

अल्पज्ञायोपयोगिस्याद् ध्यानं घातिविनाशिनः।
तत् सर्वदर्शिनः किन्तु कथं संभवतीति चेत् ॥१०५॥
एतस्योत्तरमित्येतत् समर्थं परिणामिना।
अव्याबाधत्वमागच्छ—ज्जिनराजाऽनुभूयते ॥१०६॥

अल्पज्ञोंके लिए ध्यान हो किन्तु घातिघन नाश किया।
उनके लिए ध्यान कैसा फिर सब जग जिनने जान लिया॥

अक्षातीत बोधवाले अरहंत जो कि कहलाते हैं ।
प्राप्त हुए स्वाभाविक सुखको निश्चलतासे ध्याते हैं ॥५३॥

सारांश:—यहाँ यह शंका होती है कि इसप्रकारके उपयोगकी एकाग्रता छद्मस्थ अल्पज्ञोंके तो नहीं बन सकती है, इनका ज्ञान क्रमिक होता है। परन्तु जिन्होंने चारों घाति कर्मोंका नाश कर दिया है अतः संपूर्ण भूत, भविष्यत और वर्तमानके सब पदार्थोंको जो एक साथ जानते रहते हैं, जिन्हें कोई भी बात जाननेको शेष नहीं है, ऐसे श्री अरहंत परमेष्ठीके भी तो ध्यान माना गया है वह कैसा और किसलिए है ? इस सबका उत्तर इसप्रकार समझना चाहिये—

उपयोगकी एकाग्रता निश्चलताका नाम ध्यान है। उपयोग आत्मा का गुण है। यह आत्मासे अभिन्न रहता है। आत्माकी या उपयोगकी चपलता मन वचन और कायके द्वारा हुआ करती है। श्री अरहंत भगवान्के मनके द्वारा होनेवाली चपलता नहीं होती है। वह तो बारहवें गुणस्थानके अंतमें जब केवलज्ञान प्राप्त होता है तब बिल्कुल दूर होजाती है किन्तु वाचनिक और कायिक चपलता उनके भी रहती है जिनसे वे उपदेश देते हैं और चलते फिरते हैं। इन दोनों तरहकी चपलताका भी न रहना ध्यान कहलाता है, यह भगवान्को करना होता है। इसे स्थूल शब्दोंमें योगनिरोध किन्तु आगमिक शब्दोंमें सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामसे क्रमशः कहा जाता है। इससे भगवान् अव्याबाधत्व अर्थात् पूर्ण स्वतंत्रताको प्राप्त करके अरहंतसे सिद्ध बन जाते हैं।

शङ्का:—क्या अरहंत होजाने पर भी भगवान् परतंत्र ही रहते हैं ?

उत्तर:—जैनागममें बताया गया है कि जिनके वशमें संसारी आत्मा हो रहा है वे सब कर्म ज्ञानावरणादिके भेदसे आठ प्रकारके हैं। इनमेंसे अरहंत अवस्थामें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार तो नष्ट होजाते हैं परन्तु आयु, वेदनीय, नाम और गोत्र ये चार कर्म फिर भी शेष रह जाते हैं। इनके वशमें होकर ही उन्हें संसारी बना रहना पड़ता है।

शङ्काः—फिर अरहंत अवस्थामें अनन्तसुख कैसे कहा गया है क्योंकि सुख तो स्वतंत्रताको ही कहते हैं ?

उत्तरः—हमारे पूज्य आचार्योंने सुखका लक्षण निराकुलता बताया है। अज्ञानके वशमें हुआ संसारी जीव बाह्य पदार्थोंमेंसे किसीको भला और किसीको बुरा मान कर उद्विग्न बना रहता है। उस उद्विग्नता (आकुलता)का श्री वीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवान्के सर्वथा अभाव होजाता है। फिर वहाँ सुखके लक्षणमें कोई बाधा नहीं रहती है, वे पूर्ण सुखी हो जाते हैं। उनके वह सुख होनेके बाद फिर कभी नहीं मिटता है इसलिये वह अनन्त सुख कहलाता है। ऐसा माननेमें क्या बाधा है ? यही बात ग्रंथकार पहिले गाथा नं० १०३में बता आये हैं। रागद्वेषका जीतना ही सुखका मूल है और इसीसे मनुष्य पूज्य बनता है—

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥१०७॥
तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि ॥१०८॥

जिनास्तीर्थेश्वराः सिद्धाः श्रमणाश्च महाशयाः।
पथाऽनेनैव संजातास्तस्मै तेभ्योऽथ मे नमः ॥१०७॥
त्यजेयं ममतामस्मान् निर्ममत्वमधिष्ठितः।
ज्ञात्वा ज्ञायकमात्मानमधुनाऽहं स्वभावतः ॥१०८॥

नमस्कार हो सिद्धि धरोंको जिन जिनेश सिद्धोंको भी।
तथा समीचीन श्रमणोंको जो कि सिद्धिपदके लोभी॥
उनका ले आदर्श निर्ममावस्थाको अपनानेसे।
हो जाऊँगा उऋण नियमसे मैं भवदुःख खजानेसे ॥५४॥

सारांशः—आजतक जितने भी जिन (सामान्य केवली) जिनेश्वर (तीर्थंकर केवली) और सिद्ध हुए हैं वे सब एक इसी निर्मल मार्गको अपनानेसे हुए हैं। वर्तमानमें भी जो योगी लोग संसारी गृहस्थोंके द्वारा वास्तविक आदरणीय दिखाई पड़ते हैं वे भी इस निर्ममभावकी कृपाहीसे दिखाई देरहे हैं। अतः उस निर्ममभावको और निर्ममभावके अनुयायियों

को भी नमस्कार करते हुए आदर्श मानकर उसी निर्ममसमार्गका अनुसरण करनेमें लगा हुआ हूँ और भावना करता हूँ कि अब शीघ्रातिशीघ्र उस ज्ञायक स्वभाव अपनी शुद्धात्माका अवलम्बन लेकर इस जन्म मरणके चक्करसे पार हो जाऊँ। इसप्रकार पुनः शुभ भावना भाते हुए ग्रंथकार इस ज्ञेयाधिकारको भी पूर्ण करते हैं।





चारित्राधिकार



पहिले बताया जा चुका है कि ज्ञान आत्माका अनन्यगुण है परन्तु उस ज्ञानकी सार्थकता पवित्र आचरणके द्वारा होती है। अतः आचार्य महाराज हरएक ज्ञानी (समझदार) मनुष्यको चारित्र धारण करनेकी प्रेरणा देते हुए उसका बाह्य प्रकार क्या है सो बताते हैं—

दंसण संसुद्धाणं सम्मणाणोववोगजुत्ताणम् ।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणम् ॥१॥
एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥२॥

सम्यग्दर्शनयुक्तेभ्यो ज्ञानवद्भ्यो नमो नमः ।
सिद्धेभ्यः संयतेभ्यश्चाधितिष्ठद्भ्योऽप्यबाधतां ॥१॥
सिद्धान् जिनाधिपानेवं साधून् नत्वा पुनः पुनः ।
श्रामण्यं भो व्रजेर्भव्य चेद्दुःखक्षयमिच्छसि ॥२॥

नमस्कार हो सिद्धोंको भी और साधुओंको मेरा ।
जहां सुदर्शन बोध वृत्त निर्बाधपनेका भी डेरा ॥
सिद्ध और अरहंत साधुको नमस्कार करके सुखदा ।
दुःखक्षयका इच्छुक हो वह दीक्षा धारण करे मुदा ॥१॥

सारांशः—आचार्य महाराज कहते हैं कि जो मनुष्य अपने दुःखको दूर करना चाहता हो उसे चाहिए कि वह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और

सम्यग्चारित्रके धारक, सब प्रकारकी बाधाओंसे रहित ऐसे जिनदेवोंमें भी मुख्य कहे जाने वाले सिद्धोंको तथा साधु लोगोंको भी नमस्कार करके चारित्रको धारण करे, अपना आचरण ठीक करे, यही एक दुःख दूर होनेका उपाय है। ऐसा किये बिना दुख कभी भी दूर नहीं हो सकता है। अतः चारित्र धारण करनेकी रीति आगे बताते हैं—

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥३॥
समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥४॥

बंधुवर्गमनुज्ञाप्य त्यक्तः स्त्रीतनयादिभिः।
सम्यग्दग्ज्ञानचारित्र तपोवीर्याधिकारिणं ॥३॥
कुलरूपवयोयुक्तं श्रमणैरुपसेवितम्।
गुणाढ्यं गणिनं नत्वा प्रार्थयेमाम्रुरीकुरु ॥४॥

बंधुवर्गसे आज्ञा लेकर पिता पुत्र दारादिकसे।
समुच्छिन्न वह साधु शिरोमणि पंचाचार समर्थ वसे ॥
कुलवयरूपविशिष्ट शिष्ट उनके सम्मुख समता धरके।
करे अनुग्रह करनेको प्रार्थना स्वशीर्ष नमा करके ॥२॥

सारांशः—आचार्य महाराज कहते हैं कि जिसको चारित्र धारण करना हो, वह सबसे पहिले जिनके सम्पर्कमें रहकर अपना अबतक का जीवन बिताया है, उन बंधुलोगोंसे आज्ञा लेवे कि मैं आप लोगोंके साथ आजतक बड़े संतोषपूर्वक रहा, आप लोगोंने मेरे जीवनोपयोगी कार्योंमें सब तरहसे सहायता पहुँचाई और मेरा आदर किया इसके लिए मैं आपका बड़ा आभार मानता हूँ। अब मुझे आप लोगोंसे पृथक् होकर निर्द्वन्द (शांत) जीवन बितानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई है अतः मैं श्रीगुरुके पास जाकर संयमी बनना चाहता हूँ। इस शुभ कार्यके लिए आप सब लोग मुझे सम्मति प्रदान करेंगे, मैं ऐसी आशा करता हूँ।

इसप्रकार नम्रता और भद्रता पूर्वक सब कुटुम्बियोंसे बिदा होकर किसी सुयोग्य धर्माचार्यके पास पहुँचे, जो रत्नत्रयका धारक हो, अनशनादि

तप तपनेमें भी कुशल हो, कुल रूप अवस्था और विद्या वगैरहमें भी अधिकार रखता हो, जिसको अन्य साधु लोग अपना बड़ा समझकर उसकी आज्ञामें रहनेको पसन्द कर रहे हों। उससे प्रार्थना करे कि मुझे भी आप अपने चरणोंका सेवक बना लीजिये। अस्तु।

ये दोनों ही नियम, साधक संयमी बननेवाले जीवके लिये सर्वथा अनिवार्य नहीं हैं। समय पर इसमें अनेक अपवाद भी आये हुए हैं। जैसे सुकुमाल कुमार अपनी माता और पत्नी आदिसे बिना कहे ही जाकरके मुनि बन गये थे। जब तीर्थंकर दीक्षा लेते हैं तब किसी भी दूसरे साधुको गुरु न बनाकर अपने आपही दीक्षित होजाते हैं। फिर भी सर्व साधारण लोगोंको इन दोनोंही नियमोंका ध्यान रखना परमावश्यक है। ऐसा करनेसे किसीको भी कोई बाधा नहीं पहुंचती है और संयतात्मा सहज गौरवका भाजन बन जाता है। अतः वह संयम धारण करनेवाला मनुष्य गुरुके पास किसतरहसे प्रार्थना करे, यह आगे बता रहे हैं—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥५॥
जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥६॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥७॥
आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥८॥

नान्ये मे नाहमन्येषां ममोऽङ्गं च परं पुनः।
जितेन्द्रियतयेत्येवं यथाजातपथे रुचिः ॥५॥
हिंसादितोऽतिगं जैनं रूपं कुन्तललुञ्चकम्।
शुद्धोपयोगयोगाख्यं निरारम्भपरिग्रहम् ॥६॥
परानपेक्षमात्मत्व - साधकं प्राकृतं तथा।
अपुनर्जन्मनेयुक्तं गुरोरादाय सादरम् ॥७॥

सप्रतिक्रमणं तस्मात् सकलव्रत संग्रहं ।
श्रुत्वा कर्म प्रहाणाय श्रामण्येऽभ्युचितो भवेः ॥८॥

इस जगमें मेरा नहिं कोई और न मैं कोईका हूँ ।
हे भगवन् यों जितेन्द्रियतया मनसा बननेकी साहू ॥
यथाजात हिंसादि रहित निर्लोञ्छन कचलु चनवाली ।
हो परिग्रहारंभरहित उपयोग योगशुद्धि सम्हाली ॥३॥

परालम्बसे रहित एक जिसमें आत्मोपासन शिक्षा ।
भवविच्छेदकरी मुझको वह दिला दीजिये जिनदीक्षा ॥
यों गुरुसे विनिवेदनपूर्वक सकलव्रत संदेश सुने ।
सच्चा साधु सन्त होकर निज कर्मतूलको क्यों न धुने ॥४॥

सारांशः—इस स्वार्थी संसारमें रहकर भी मैं किसीका नहीं हूँ और न कोई अन्य मेरा ही है । इस प्रकारका विचार भी इस जीवका दो तरहसे होता है । एक तो इन्द्रियविषय भोगाधीन होकर जब यह जीव देखता है कि मेरी मनचाही बात नहीं होती है तब व्याकुल होकर ऐसा विचार करने लगता है कि यह तो सब बुरा है, द्वेषरूप होनेसे पापमय है । दूसरा—जब यह देखता है कि देवोपनीत कल्पवृक्षादिसे सम्प्राप्त इच्छानुसार विषय भोगने पर भी कुछ शांति नहीं मिल रही है । प्रत्युत दिन प्रतिदिन आशा तृष्णा बढ़ती जारही है अतः इनका सेवन मेरी आत्माके लिए हानिकर है, निस्सार है, भूल भरा है । इसप्रकार अपने मन एवं इन्द्रियोंको वशमें करते हुए किया जाता है ।

यह विचार वैराग्ययुक्त होता है । इसीसे गुरुदेव के सम्मुख साधु बननेकी इच्छा प्रकट करना चाहिये । भगवन् ! अब मुझे भी जैनेश्वरी दीक्षा दीजिये जो आरंभ और परिग्रहसे रहित होती है । अतएव यथा-जात (तत्काल उत्पन्न हुए बच्चेकी तरह) सरलताको लिये हुए होती है । अपने उपयोग और योग दोनोंको शुद्ध (निर्द्वन्द) बनाते हुए समता को उत्पन्न करनेवाली है । हिंसा आदिका सर्वथा अभाव होकर जिसमें बाह्याडम्बर भी बिलकुल नहीं होता है । इस शरीरमें भी निस्पृहताको प्रगट करनेवाला केशलु चन किया जाता है । जिसमें परावलंबनका नाम-

मात्र भी न होकर अपने भरोसे पर ही खड़ा हुआ जाता है। अतएव जो पुनः शरीर धारण करनेका विच्छेद करनेवालो है।

ऐसा निवेदन करके गुरुके सम्मुख पहिले तो पूर्वमें किये हुए अपने सम्पूर्ण दुष्कृत्योंको स्पष्ट करते हुए उन पर पश्चात्ताप करे, फिर गुरुदेव जो भी आदेश उपदेश करें, कर्तव्य कार्य वतावें उसे ध्यानपूर्वक सुने एवं गुरुजीके आशीर्वाद पूर्वक उसे पालन करनेके लिए दृढ़प्रतिज्ञ बनना चाहिये। अस्तु। इस साधु दीक्षामें कौन कौनसे कर्तव्य किस प्रकारसे करने पड़ते हैं, यही संक्षेपमें वता रहे हैं—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥९॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥१०॥

व्रतानि समितीरक्षा-निरोधानि च पंचधा ।
कचलुंचनमस्नान-माचेलक्यमिलाशयम् ॥९॥
अदन्तधावनं स्थित्या भोजनं चैकधा दिने ।
विद्ध्यावश्यकषट्कं भो मुने मूलगुणानिमान् ॥१०॥

व्रतसमितीन्द्रियजय आवश्यक लोच भूशयन पटमुक्ति।
अदन्तोन अस्नान एक भोजन दिनमें उत्थित भुक्ति ॥
जिनवरजीने अठाईस ये मूलगुण कहे हैं भाई ।
साधु वही होता है जिसके इनमें कमी न होपाई ॥५॥

शङ्काः—और तो सभी बातें ठीक हैं परन्तु साधुको बिलकुल वस्त्रहीन नग्न ही रहना चाहिए, विनयपूर्वक एक दिनमें एकबार ही अन्न ग्रहण करना चाहिए, यह भी एक जगह खड़े रहकर ही लेना चाहिए ये तीनों वातें कुछ कम समझमें आती हैं क्योंकि श्वेताम्बर जैन इन्हें स्वीकार नहीं करते हैं।

उत्तरः—यदि अपने वर्तमान साम्प्रदायिक रूढिवादमें पड़करके ही इनको न माना जावे तव तो बात कुछ निराली है। अन्यथा तो उपर्युक्त

तीनों ही बातोंका समर्थन श्वेताम्बर शास्त्रों से भी पूरा पूरा होता है। देखो उमास्वामी विरचित तत्वार्थसूत्र महाशास्त्र जिसको हरएक जैन पूर्णरूपसे प्रमाणित मानता है। इसमें बाईस परिषहोंके नामोल्लेखकारक सूत्रमें छठा नग्न परिषह लिखा हुआ है। इसका यह अर्थ है कि वस्त्ररहित नग्न रहकर भी निर्विकार रहना जो कि हरएक मुनिके लिये आवश्यक है।

शंकाः—आप कहते हो सो ठीक है किन्तु परिषहोंका जीतना तो उत्तरगुणोंमें आता है जो कि हरएक मुनिके लिए आवश्यक नहीं है अपितु अभ्यासरूप होता है।

उत्तरः—परिषहजयको यदृच्छावाद यथाशक्यवाद कहकर मुनिके लिए वस्त्रधारणका समर्थन किया जायगा तव तो स्त्री परिषह न सह सकनेवालेके लिये स्त्री सम्पर्क, चर्या परिषह न सह सकने वालेके लिए कोई भी प्रकारकी सवारी और पादत्राण (जूते) का विधान, शय्या परिषह न सह सकनेवालेके लिए पलंगकी आवश्यकता आदि सभी प्रकारकी अभद्रता हो जायगी। इन सबको उत्तरगुणोंमें रखनेका तो इतना ही मतलब है कि प्रसंग प्राप्त इन सब बातोंको बाहरमें सहन करते हुए भी अंतरंग परिणामोंमें कभी किसीके चंचलता आजाती है।

जैसे किसी मुनिको स्थानान्तरमें जाना आवश्यक है। मारवाड़ देश है, जहाँ मार्गमें बँबूलकी शूल तथा अन्य कंटक (काँटे, भरूँठ) वगैरह सर्वत्र विखरे हुए पड़े हैं, जो पैरोंमें चुभते हैं, उन्हें न सह सकनेसे वह मुनि कराहने भी लग जाता है और चलता रहता है। ऐसी दशामें तो यही कहना चाहिए कि वह चर्या परिषहका विजयी न हो सका। यदि उन कंटकोंसे डरकर वह पैरोंमें जूते पहिनकर चलने लगे तब तो मुनि कहलानेका पात्र ही नहीं रहा क्योंकि उसके अपरिग्रहादि महाव्रतों का भंग होगया। मूलगुण ही नहीं रह पाए। ऐसे ही नग्न परिषहके विषयमें भी समझना चाहिए।

यह बात दूसरी है कि नग्न होकर निर्विकार बने रहना हरएक समझदारके वशकी बात नहीं हो सकती। अतः जो पूर्ण नग्न न रह

सकता हो वह एक वस्त्रादिका धारक होकर क्षुल्लकादिके रूपमें धर्म-साधन कर सकता है किन्तु वह मुनि नहीं माना जासकता है। यदि कोई भोलेपनसे या और किसी कारणको लेकर उसे गृहत्यागी जानते हुए उपचार मात्रसे मुनि कह रहा हो तो उसका कोई क्या कर सकता है। जैसे कि प्रद्युम्नचरित्रके रचयिता श्री सोमकीर्ति जैसे दिगम्बर जैन आचार्यने भी नारदजीको स्थान स्थान पर मुनि कहकर पुकारा है।

मुनि अहोरात्रमें दिनमें एकवार ही भोजन करता है

दिगम्बर शास्त्रोंके अतिरिक्त श्वेताम्बरोंके मान्य ग्रंथ उत्तराध्ययनके सामाचारी नामक छब्बीसवें अध्यायमें लिखा हुआ है—

दिवसस्स चऊरो भागे भिक्खू कुज्जा विपक्खणो।
तवोउचर गुणे कुज्जा दिण भागेसु चउसु वि ॥
पढमं पोरसिसमज्झायं वीयं झाणं झिपायई।
तइयाये भिक्खायरिं यं पुणो चउत्थी ये सज्झायं ॥

अर्थात् ज्ञानी मुनि दिनके चार भाग कर लेवे। इनमेंसे पहिले भागको स्वाध्याय करनेमें, दूसरेको ध्यान करनेमें, तीसरेको भिक्षावृत्तिमें और चौथे भागको फिर स्वाध्याय करनेमें व्यतीत करे। इसप्रकार लिखकर उसके आगे १७ वीं और १८ वीं गाथामें रात्रिके भी चार भाग करके पहिले भागमें स्वाध्याय, दूसरे भागमें ध्यान, तीसरे भागमें निद्रा और चौथे भागमें फिर स्वाध्याय करनेके लिये लिखा हुआ है। दिनरात के आठ पहरोंमेंसे मुनिके लिये केवल दिनका तीसरा पहर बताया है, जिसमें वह भिक्षाके लिए शहरमें भ्रमण करके उसी एक पहर कालके समाप्त होनेसे पहिले भोजन भी कर चुके और पुनः आकर अपने स्वाध्याय स्थानमें स्वाध्याय करनेमें लग जावे। इस सब कथनसे यह स्पष्ट है कि मुनि चौबीस घंटेमें दिनमें एकवार भोजन करे।

मुनि एक स्थान पर खड़ा खड़ा ही भोजन लेता है

दिगम्बर जैनाचार्योंकि ही नहीं किन्तु श्वेताम्बर मान्य जैनाचार्योंके लिखे हुए इतिहासरूप कथाग्रंथोंमें किसी भी जगह ऐसा स्पष्ट नहीं होता

कि किसी भी जैन मुनिने अनेक घरोंसे थोड़ा थोड़ा अन्न लेकर कहीं अन्यत्र एक जगह बैठकर खाया हो । प्रत्युत सभी उपाख्यानोंमें ऐसा ही वर्णन मिलता है कि अमुक मुनिने अमुक श्रावकके यहाँ आहार लिया । धन्ना चरितमें लिखा है कि धन्ना मुनि तथा शालिभद्र मुनि भिक्षाके लिए नगरमें जानेकी स्वीकृति प्राप्त करनेको भगवानकी सेवामें गये । भगवानने दोनों मुनियोंको भिक्षाके लिए नगरमें जानेकी स्वीकृति देकर शालिभद्र मुनिसे कहा कि हे शालिभद्र ! आज तेरी माताके हाथसे तुम दोनोंका पारणा होगा । फिर दोनों मुनि सीधे भद्राके ही पहुँचे लेकिन वह तो भगवानके दर्शन करनेके लिये जानेकी तैयारी कर रही थी अतः वहाँ उन्हें भिक्षा न मिल सकी और यों ही वापिस लौटना पड़ा ।

लौटते हुए दोनों मुनि सोचने लगे कि भगवानके कहे अनुसार भद्रा के यहाँ तो अपनेको भिक्षा नहीं मिली परन्तु भगवानके वचन तो अन्यथा नहीं होने चाहिये । अतः अपन फिर एकबार भद्राके यहाँ और चलें । संभव है कि इस बार भिक्षा मिल जावे । ऐसा सोचकर फिर वे भद्राके यहाँ गये किन्तु इस बार भी उन्हें खाली ही लौटना पड़ा । दोनों हो विचारने लगे कि आहार न मिला तो न सही, अब अपनेको भगवानकी सेवामें उपस्थित होना चाहिये ।

जब दोनों चले जा रहे थे तब उन्हें एक दूध बेचनेवाली वृद्धाने देखा और उसने उनसे श्रद्धापूर्वक प्रार्थना की कि स्वामिन् ! मेरे पास दूध है । आप कृपाकर ग्रहण करें । दोनों मुनियोंने वृद्धाकी प्रार्थना स्वीकार करके दूधका पारणा किया और फिर भगवान्के पास पहुँचे । जब गृहस्थके यहाँ ही मुनिका पारणा होना स्पष्ट है तब फिर गृहस्थके यहाँ मुनिको नहीं बैठना चाहिये । खड़ा ही रहना चाहिए, ऐसा आजके श्वेताम्बर भाई भी मानते हैं । जब खड़ा खड़ा ही भोजन लेता है तब फिर पात्रकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहती है । गृहस्थ उसकी अंजलिमें रखता जाता है और मुनि उसे खाता या पीता रहता है, यही सुशोभन प्रतीत होता है । यही बात जैनशास्त्रों से ही नहीं किन्तु वैदिक साहित्यसे भी स्पष्ट है—

एकाकी निस्पृहः शान्तः कर्मनिर्मूलनक्षमः ।
कदाहं संभविष्यामि पाणिपात्रो दिगम्बरः ॥श्री भर्तृहरि॥

मतलव यह है कि करपात्रभोजी नग्न दिगम्बर साधु बने बिना कर्मोंका नाश नहीं किया जासकता है, यह निर्विवाद सिद्ध है । इसे हर एक ज्ञानीका मन स्वीकार करता है । श्वेताम्बरोंके भी उववाई सूत्रमें प्रश्न २१में वतलाया है कि दिगम्वरत्वसे मुक्ति प्राप्त होती है । सव कुछ त्यागकर दिगम्बर साधु हुए विना तो अधिकसे अधिक यह मनुष्य अच्युत स्वर्गमें जाकर जन्म ले सकता है । ऐसा भी वहाँ प्रश्न नं० वीसवेंमें वताया है । ऐसा ही उत्तराध्ययनमें लिखा है ।

याद रहे कि शरीरपरसे वस्त्र उतार देने मात्रका ही नाम दिगम्वर नहीं है । वस्त्र तो एक पागल भी उतारकर फेंक देता है । वह दिगम्बर नहीं किन्तु नंगा कहलाता है । वस्त्रोंके साथ साथ संसारके सभी पदार्थोंसे निस्पृह होकर रहना और अपने मानसिक मैल (कषाय भाव) को दूर करके सर्वत्र ही समता भावको स्वीकार करना दिगम्बरत्व होता है । इसे प्राप्त करनेवाला ही सच्चा साधु होता है और तभी वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

मुनियोंमें कुछ आवश्यक भेद

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावगा समणा ॥११॥
पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥१२॥
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥१३॥
अधिवासे व विवासे छेदविहूणो भवीय सामण्णे ।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥१४॥

दीक्षाप्रदायकोऽमीषु गुरुरित्यभिधीयते ।
निर्यापकः स यो दोषं विशोध्य स्थितिकारकः ॥११॥
सयत्नं गच्छतोऽङ्गस्य व्यापारेण यदुत्थितम् ।
प्रतिक्रमण मात्रेण दूषणं तद्विशुध्यति ॥१२॥

किन्तु मानसयोगेन यदा संजायते मलं ।
गुरोरग्रे निवेद्यास्यच्छेदसम्पच्चितः क्षतिः ॥१३॥
ततश्चपल चेतस्को मुनिर्गुरुकुले वसेत् ।
निर्दोषरीत्या कर्त्तव्य-पालकस्तु वसेत् क्वचित् ॥१४॥

इन मुनियोंमें दीक्षा देनेवाला गुरु कहलाता है।
निर्यापक जो दूषितको दण्डितकर ठीक बनाता है॥
यत्नसहित चलते चलते जो कायिक दूषण बन जावे।
समालोचनायुत क्रिया करनेसे ठीक सुधर पावे ॥६॥
किन्तु मानसिक दूषणमें गुरुसे विनिवेदन करके ही।
उनके कहे हुएको करनेसे निर्दोष बने देही॥
जो अपने कर्तव्योंका दृढ़तासे पालन करता हो।
वह मुनि तो गुरुकुलमें अथवा एकाकी भी कहीं रहो ॥७॥

सारांशः—मुनियोंमें प्रधान दो तरहके होते हैं। एक तो नूतन दीक्षा देकर असंयमीको संयमी बनानेवाले होते हैं, इन्हें गुरु कहते हैं। दूसरे वे जो सर्व साधारण मुनि किसी कारणवश अपने गुरुके सन्निकट न होने पर अपने व्रतोंमें किसी प्रकारकी भूल बन जाने पर जिसके आगे प्रायश्चित लेकर उस भूलको ठीक कर लेता है, इन्हें निर्यापक आचार्य कहते हैं। चलते फिरते छद्मस्थ आत्मासे न करना चाहते हुए भी अनेक अपराध बन जाते हैं। जैसे एक मनुष्य बहुत अच्छी तरहसे देखभालकर चल रहा है फिर भी कोई उड़नेवाला जन्तु हटात् आकर उसके शरीरसे टकराकर मर गया। अब उसके मरनेमें उस चलनेवाले मनुष्यकी कोई भूल नहीं है और न उसे मारनेका मनुष्यका विचार ही था फिर भी वह मनुष्य अपने आपको इसमें अपराधी मानता है। वह सोचता है कि हाय हाय बड़ा अनर्थ

होगया। मेरे शरीरसे टकराकर यह जीव मर गया। इस बिचारेका जीवन समाप्त होगया इत्यादि।

इसके बदले यदि वह ऐसा विचार करले कि मैं क्या करूं, मेरी तो कोई भूल नहीं है। मर गया तो अपनी भूलसे मर गया। मैं तो अच्छी तरहसे चल रहा हूँ। ऐसे कहनेका यह अर्थ निकलता है कि यह मनुष्य निर्दय है, यह उसे मारना ही चाहता था। इस प्रकार मानसिक घोर अपराधी प्रमाणित होता है। इसकी परिशुद्धिके लिये भले ही वहाँ इच्छापूर्वक उसका कोई भी योग न हो फिर भी निमित्तरूपमें अपनेको अपराधी मानते हुए उसे पश्चात्ताप करना आवश्यक होजाता है। जिससे उसके चित्तमें पहिलेसे भी कुछ अधिक कोमलता उत्पन्न होसकती है, इससे उसके अपराधकी निवृत्ति हो सकती है।

ऐसे अवसर पर अपने आप भी आलोचना प्रतिक्रमण करके संशोधन किया जासकता है परन्तु अपने मनकी चंचलताके कारणसे जान बूझकर कोई भी भूल करदी गई हो तो उसको गुरुके सम्मुख प्रगट करके उनसे प्रायश्चित्त लिये बिना उसका संशोधन नहीं बन सकता है। मनुष्य अपने कर्त्तव्यको अपने आप तो करता ही है किन्तु अपने अन्य साथियोंको करते हुए देखकर उससे उसको और भी प्रोत्साहन मिलता है। मनुष्यकी चित्तवृत्ति चंचल होती है। न मालुम किस समयमें मन का किधर घुमाव होजावे। ऐसे अवसर पर गिरते हुए मनको सहारा देकर स्थिर करनेके लिए सहयोगियोंकी आवश्यकता होती है।

इसीलिये अधिकतर आत्मार्थी साधक लोग गुरुकुलमें सत्समागममें ही रहते हैं, ऐसे मुनियोंको अन्तेवासी स्थविरकल्पी मुनि कहा जाता है। जो सुदर्शन (सेठ) मुनिके समान सुदृढ़ अध्यवसायी होते हैं, जिनको अपने आत्मबल पर पूर्ण भरोसा है, घोरसे घोर उपसर्गादिकके आने पर भी जो सुमेरुके समान अविचल रहनेवाले हैं, जिनके आवश्यक कार्योंमें कभी भी किसी प्रकारकी कमी नहीं रहती है, ऐसे महामुनि जहाँ कहीं भी स्वतन्त्ररूपसे विचरण करते हुए रह सकते हैं। इन्हें एकाकी या जिनकल्पी मुनिके नामसे पुकारा जाता है, क्योंकि—

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥१५॥
भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा ।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥१६॥

आत्मनिप्रणियुक्तिर्या यतो ज्ञानदृगात्मनि ।
सैव श्रामण्यमूलाख्य गुणानामपिनिष्ठितिः ॥१५॥
यथाऽऽगमविरुद्धेषु प्रवृत्तिश्च्छेदकारिणी ।
योग्येष्वपि किलाहारा-दिषु सा शमदारिणी ॥१६॥

पूर्णरूपसे मूलगुणोंका पालन करता हुआ मुनि ।
परमात्मानुभवनमें रत हो रहे वही है धन्य गुणी ॥
अशनकी तरह अनशनमें भी स्थानकी तरह विहारमें ।
विकथा श्रमणोपधिमें भी जो सुघड़ साधु सो नहीं रमें ॥८॥

सारांशः—सम्पूर्ण प्रकारकी बाह्य प्रवृत्तिसे दूर होकर ज्ञानदर्शनात्मक आत्मामात्रमें तल्लीन रहना ही वास्तविक श्रमणत्व है । यही मूलगुणोंका यथार्थ पालन है । मूलगुणोंमें प्रधान पाँच महाव्रत हैं अन्य सब तो उन महाव्रतोंको न विगड़नेदेने, उन्हें बनाये रखने और परिवर्द्धित करनेके लिये उन्हींके परिकर स्वरूप हैं । इन महाव्रतोंका स्वरूप श्री तत्त्वार्थसूत्रके "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं ॥१॥" इस सूत्रानुसार हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापोंसे सर्वथा दूर रहना माना गया है । ये उपर्युक्त आत्मतल्लीन अवस्थामें पूर्ण रूपसे होते हैं ।

आगम विरुद्ध आहार (अभक्ष्य भक्षण) वगैरहमें प्रवृत्त होना जिसप्रकार पापबंधका कारण है, उसीप्रकार आगमोचित योग्य भोजन करने वगैरहमें लगे रहना भी पापबंधका कारण भले ही न सही, फिर भी त्यागीके सर्वस्वभूत समताभावसे तो दूर करनेवाला ही है । यह प्रादेशिक ममताको लिये हुए होता है । अतः यह लक्षणावृत्तिसे परिग्रह बन जाता है । जहाँ परिग्रह होता है वहाँ घुमाव खाकर हिंसादि पाँचों ही बातें उतने अंशमें आजाती हैं । प्रवृत्त्यात्मक महाव्रत तो मुनिके लिए

जैनाचार्योंने इस बातको ध्यानमें रखते हुए बतलाये हैं कि मुनिपदका निमित्त कारण छद्मस्थका यह शरीर है। जब यह मुनिपदके योग्य ध्यानाध्ययन करनेमें असमर्थ प्रतीत हो तब इसे शास्त्रोक्त रीतिसे समुचित आहार पान देकर आत्मध्यान करनेके योग्य बना सकते हो।

जब तुम्हें ध्यानादि करनेके लिए बैठना हो तब वहाँ पर जो जीव जन्तु हों उन्हें न सताकर उन पर दयाभाव रखते हुए अपनी पिच्छिका से उन्हें आसानीसे दूर हटाकर वहाँ बैठ सकते हो। प्रारंभिक दशामें ध्यानकी सहकारिताके रूपमें यदि कुछ बोलना भी पड़े तो अशुद्ध न बोलकर शुद्ध बोलते हुए अपना कार्य कर सकते हो। शौचादिसे निवृत्त होनेके लिए यदि कहीं जाना पड़े तो ईर्यासमिति पूर्वक गमन करके प्रतिष्ठापना समितिको उपयोगमें लाते हुए शरीर चिन्तासे भी निवृत्त हो सकते हो।

मलोत्सर्ग करनेमें शरीर पर मल लगा हुआ रह जानेसे उसमें जन्तु समागम होकर वह हिंसाका साधन न बन जावे, इसके लिये अप्रासुक तो नहीं किन्तु प्रासुक किये हुए जलसे और दग्ध मृत्तिकासे अपने हाथ धो सकते हो। न मालुम मलादिकका वेग किस समय किस प्रकार होजावे, अतः उसे साफ करनेके लिये धार्मिक स्नेहसे किसी धर्मात्माके द्वारा दिये गये शुद्ध जलको एक काष्ठपात्र (कमण्डलु) में हरसमय अपने पास रख सकते हो। किसी भी स्थानको अपना घर बनाकरके तो नहीं किन्तु ध्यान करनेके लिए जहाँ तुम्हारा चित्त लग सके ऐसे बेरोकटोक गिरि गुहादि शून्य स्थानमें ठहरकर अपना आत्म-चिन्तन आदि कार्य कर सकते हो। इत्यादि रूपसे अपना कर्तव्य समझ लेना चाहिये।

शङ्काः—आपने कहा सो तो समझा किन्तु मूलगाथामें महात्माके लिए भोजनकी ही भाँति उपवासको भी बताया सो कुछ समझमें नहीं आता क्योंकि उपवास तो मुनिका जीवन सर्वस्व ही है जो कि समाधिकालमें भी रहता है। जो भोजन भी नहीं करेगा और उपवास भी नहीं तो फिर क्या करेगा ?

उत्तरः—तुम्हारा कहना ठीक है परन्तु बात यह है कि भोजन करना जिसप्रकार शरीराश्रित जीवकी क्रिया है उसीप्रकार उपवास करना एवं मुनि दशा भी। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। शरीर को ग्रहण किये हुए रहना ही आत्माके लिये सबसे बड़ा परिग्रह है। उपवास ही करता रहूँ या मुनि ही बना रहूँ, ऐसे सोचनेका भी अर्थ यह हुआ कि मैं शरीरधारी ही बना रहूँ। ऐसा एक आत्मार्थी जीवके लिये कभी संभव नहीं कहा जासकता है।

वह यह अवश्य सोचता है कि अहो! मैं मुनि बन गया हूँ। मेरे इन परिणमनशील भावोंके द्वारा ऐसा न हो कि मैं वापिस चलायमान होकर गृहस्थपन पर चला जाऊं। स्वल्प रागीसे तीव्ररागी होकर त्यागीसे भोगी बननेका अवसर देख पाऊं। मुझे तो अपने परिणामोंको इसप्रकार सँभालकर रखना चाहिये। मेरे परिणामोंमें जो यह धर्मानुराग हो रहा है वह भी स्वल्पसे स्वल्पतर और स्वल्पतरसे स्वल्पतम बनते हुए अन्तमें मैं पूर्ण वीतराग बन जाऊं क्योंकि उसके इस प्रकारके विचारका नाम ही प्रयत्न है, यत्नाचार है। इसके होनेसे उसकी सभी क्रियायें अहिंसात्मक बनती हुई सफल बनती हैं। यत्नशून्य होने पर हिंसारूप ठहरती हैं। यही आगे बता रहे हैं—

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संततित्ति मदा ॥१७॥
मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥१८॥

यतितातिगतास्थाना – सनसंशयनादिषु।
प्रवृत्तेश्चेत्तदाहिंसा—मनुबध्नाति निश्चिताम् ॥१७॥
प्रमादचारिणः साधो—र्म्रियतांमाथवाऽसुमान्।
समितिषूचितज्ञस्य बन्धो नासुहतावपि ॥१८॥

क्योंकि स्थानासनादिमें लग रहना भी तो हिंसा है।
जहाँ कि मुनिका हो ममत्व फिर कैसी वहाँ अहिंसा है॥

मरे जीव या नहीं असंयतभाव रहे तो हिंसा है।
समितियुक्त यतिपनमें वध होकर भी सदा अहिंसा है ॥९॥

उच्चालिदम्मि पाये इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाये।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज ॥१९॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहमो वि देसिदोसमये।
मुच्छापरिग्गहोच्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥२०॥
अयदाचारो समणो छस्सु वि य कायेसु बंधगो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥२१॥

ईर्यासमितियुक्तेनापि पादे परिचालिते।
कुन्थु जीव वधोऽवश्यं न वंधो जातु तत् कृतः ॥१९॥
अयताचरणी साधुः षट्सु कायेषु वंधकृत्।
यतं यदि चरेन्नित्यं जले कमलवत्तु सः ॥२०॥

ईर्यासमिति सहितका भी जब जिस जमीन पर पैर गया।
कुन्थु जीव मरते हैं फिर भी वंध न कुछ भी कहा गया ॥
यत्नाचारहीन मुनि ही हिंसक हो वंध लहाता है।
यति चलकर भी कमलकी तरह जलसे भिन्न कहाता है ॥१०॥

सारांशः—'मनो निग्रहीति, चित्तवियंत्रणा' मनको अपने वशमें करके रखनेको यत्नाचार कहते हैं। यत्नाचारवृत्तिके न होने पर मनुष्य अपने उठने, वैठने, चलने और शयन करने आदि सभी कार्योंमें हिंसक बनकर पापबंधका करनेवाला होता है और यत्नाचारसे चलकर इन्हीं कार्योंमें प्रवत्त होनेवाला यति पापबंधको कभी भी प्राप्त नहीं होता है। पूर्णरूपसे ईर्यासमितिपूर्वक चलनेवाले मुनिराज भी जब पैर उठाते हैं और रखते हैं तव अवश्य ही वहाँ पर रहनेवाले अनेक सूक्ष्म कुन्थ्वादि जीवोंका घात होता रहता है। इस बातको वे यतिराज स्वयं भी जानते हैं फिर भी उन्हें हिंसक नहीं कहा जाता है क्योंकि उस जीव हिंसा जन्य बंध उनके बिलकुल भी नहीं होता है।

ऐसा हमारे आगममें वतलाया है और वुद्धि भी इस बातको मानती है क्योंकि इसप्रकारसे हिंसक बनकर पापी होनेपर तो फिर

कोई भी पापसे वंचित नहीं रह सकता है। बल्कि श्री केवली भगवान् को भी पापका बंध होगा क्योंकि चलते फिरते तो वे भी हैं। उनका वह चलना फिरना किसी भी प्रकारकी मनोवृत्तिको (इच्छा विशेषको) लेकर नहीं होता है, केवल नियोगमात्र होता है। इसीप्रकार जो मुनि मनको मारे हुए होते हैं, उनका शास्त्रानुसार चलना, फिरना, उठना, बैठना वगैरह होते हुए भी कर्मबंधकारक नहीं होता है। जैसे कमलका जलमें रहना भी उसके लिए समार्द्रता विधायक नहीं हुआ करता है।

यदि मन वशमें नहीं है तो फिर भले ही कोई भी जीव उसके चलने फिरने आदि कार्योंमें न भी मारा जावे तो भी उसके पापबंध अवश्य होता ही है। क्योंकि बंधका कारण तो और कोई भी न होकर केवल एक मनोमालिन्य है, ममता भाव ही है। जिसको परपदार्थोंमें जितना अधिक ममत्व होगा उसके उतना ही तीव्र बन्ध होगा और जिसके जितना कम होगा उसके उतना ही कम होगा।

जैसे एक मनुष्य स्वदारसंतोषी है। वह अपनी स्त्रीके साथ सन्तानोत्पत्तिकी इच्छासे हरएक ऋतुकालमें योग्य समय पाकर प्रसंग करता है। इस कार्यमें उसे बार बार बहुत हिंसा करनी पड़ती है फिर भी वह पापी नहीं है। एक दूसरा मनुष्य जिसके अपनी स्त्री नहीं है और वह स्त्रीप्रसंगका त्यागी नहीं है अतः परस्त्रीकी तलाशमें फिरता है, तब बड़े परिश्रमसे किसी स्त्रीके साथमें संपर्क कर पाता है। यहाँ एक बारके प्रसंगमें यद्यपि उस उपर्युक्त स्वदारसंतोषीकी अपेक्षा जीव-हिंसा बहुत कम है फिर भी घोर पापका बंध होता है, जिससे नरकमें जाकर भयंकर कष्ट भोगता है।

कर्मबंध तो जितने अंशमें राग होता है उतना उपर्युक्त स्वदारसंतोषीके भी होता है किन्तु वह शुभायुर्नाम गोत्र और साता-वेदनीयके रूपमें होकर उसे स्वर्गमें पहुँचा देता है, नरकमें नहीं जाने देता है। परस्त्रीके प्रसंगकी बात तो दूर ही रहे, उसकी तो अधिवासना मात्रसे मनुष्य नरकगामी बन जाता है। मतलब यह है कि कर्मबंधके लिए अन्य प्राणियोंके घातरूप हिंसाकी कोई अपेक्षा न होकर परपदार्थोंके प्रति-

होनेवाला इस जीवका मोह ममत्वरूप परिग्रहभाव ही बलवान् है। यही आगे वताते हैं—

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥२२॥
ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धो।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ॥२३॥

मृतेऽपि प्राणिनीत्यत्र शरीरस्य तु चेष्टया।
वंधो भवेदपि न वा भवेदिति सतां मतिः ॥२१॥
किन्तूपधिस्तु यत्र स्यात् तत्र वंधो निदानतः।
इति निश्चित्य योगीन्द्राः त्यक्तवन्तः पुराऽखिलं ॥२२॥
वहिस्त्यागं विना चित्त-शुद्धिर्नहि यथोचिता।
अशुद्धचेतसः कर्म-क्षयवार्ता कुतस्तनी ॥२३॥

तनुसे जहाँ जीव मरता है वहाँ वंध है और न भी।
किन्तु संगसे वंध नियमसे साधु न रखता संग कभी॥
वहिस्त्यागके विना चित्तकी शुद्धि न पूरी होपावे।
कलुषित मनवालेका कर्मक्षय कैसे फिर होजावे॥११॥

सारांशः—पहिले वताया जाचुका है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांच पापोंसे साधकको बच कर रहना चाहिये। साधारण रूपसे किसीके प्राणोंका घात करना, उसे मारना, पीटना वगैरह हिंसा है। किसीके साथमें धोखेबाजीकी वातें करना झूठ है। किसीकी वस्तुको वलात्कारसे या बहाना वनाकर छीन लेना चोरी है। स्त्री पुरुष के परस्पर प्रेमभावका नाम कुशील है। दूसरी वस्तुओंको अपनी मान लेना ममत्वभाव है, मोह है, परिग्रह है।

यह परिग्रहभाव तो जहाँ हिंसादिक होते हैं वहाँ भी होता है और उनके बिना भी होता है। जैसे एक पुत्र अपने पिताकी सम्पत्तिको अपनी सम्पत्ति वताता है, उसके ऐसे कहनेमें हिंसा, झूठ, चोरी और कुशील चारों पाप नहीं हैं परन्तु परिग्रहभाव भाव है। इसीप्रकार हिंसादिक चारों कार्य भी परिग्रहभावको लिये हुए भी होते हैं और उसके बिना

भी हुआ करते हैं। जब ये चारों ही कार्य यदि परिग्रहभावके बिना होते हैं तब अनर्थकर नहीं, किन्तु परिग्रह भाव से युक्त होने पर अनर्थ करनेवाले होते हैं। जैसे एक स्त्री अपने पुत्रको पुत्रभावसे चूमती है तो अनर्थ नहीं है परन्तु वही यदि उसको पतिभावसे चूमती है तो वह कुशील है, अनर्थ है।

रातदिन खेल ही खेलमें समयको नष्ट करनेवाले बालकके हाथमें से उसके तासके पत्तोंको उसका पिता छीन लेता है तो वह बुरी बात नहीं है, चोरी नहीं है। यदि कोई दूसरा मनुष्य उससे छीनकर कहीं छिपा भी देता है तो चोरी है, खोटी बात है। एक खाँसीका रोगी बाजारमें कच्ची अम्बी (कैरी) आई सुनकर अपने मित्रसे पूछता है कि क्या बाजारमें अम्बियाँ आई हैं? यदि आई हो तो मेरे लिये भी ला दो। मैं भी उनका शाक (अचार) खाऊंगा। इस पर मित्र यह सोचकर कि यह खावेगा तो इसकी खांसी और बढ़ेगी इसलिये कह देता है कि अम्बी बाजारमें नहीं आई है अथवा आई तो थी परन्तु बिक चुकी हैं, ऐसा कहना बुरा नहीं है, झूठ नहीं समझा जाता है। यदि वही यह सोचकर कि अम्बियाँ थोड़ी हैं यदि यह मँगा लेवेगा तो फिर मैं उनके बिना रह जाऊंगा या मुझे थोड़ी ही मिल सकेगी तब उसीका यह कहना बुरी बात हो जाती है, झूठ समझी जाती है।

वैद्य किसी रोगीको उसका अजीर्ण दूर करनेके लिए लंघन करवाता है जिससे उस रोगीको कष्ट भी होता है फिर भी वैद्यको पापबंध नहीं होता है। यदि वह वैद्य यह सोच करके कि मैं इसे लंघन करवा कर कमजोर कर दूंगा तो फिर इसे स्वस्थ होनेमें कई दिन लगेंगे जिससे मुझे अधिक लाभ होगा। इस आशयसे लंघन करवा रहा है तो वह अवश्य पापी है क्योंकि इसमें उसका परिग्रहभाव बढ़ा हुआ है।

झूठ, चोरी और कुशील ये तीनों कार्य भी हिंसाके ही प्रकार हैं। जहाँ किसी भी अन्य प्राणीको सीधा कष्टमें डाला जाता है उसका नाम हिंसा है। जहाँ वचनके द्वारा किसीको कष्ट पहुँचाया जाता है उस हिंसाका नाम झूठ है। जहाँ कोई भी वस्तुका अपहरण करके दूसरेको कष्ट दिया

जाता है उस हिंसाका नाम चोरी है । जहाँ शीलको बिगाड़ते हुए किसी दूसरेको कष्टमें डाला जाता है उस हिंसाका नाम कुशील है । जहाँ परपदार्थके प्रति अहंकार ममकार करते हुए जो अपने परिणाम बिगड़ते हैं, राग द्वेष उत्पन्न होते हैं उसका नाम परिग्रह है । इसप्रकार अब दूसरे शब्दोंमें हिंसा तथा परिग्रह ये दो ही परिहार्य अवशिष्ट रह जाते हैं ।

शङ्का:—जब अपने रागादि भावोंका नाम परिग्रह और दूसरेको कष्टमें डालना हिंसा है, ऐसा कहा जायगा तब हिंसाके, जो द्रव्यहिंसा और भावहिंसा ये दो भेद किये जाते हैं, सो कैसे होंगे ?

उत्तर:—आपने किसीके थप्पड़ लगाया, जिससे उसके परिणामोंमें क्लेश हुआ यह भावहिंसा हुई और आपके थप्पड मारनेसे उसके गाल पर चोट आई, उसका गाल लाल होगया; यह द्रव्य हिंसा हुई । भावप्राणोंका घात होना भावहिंसा है और द्रव्यप्राणोंका घात होना द्रव्यहिंसा है, इसप्रकार स्पष्ट है । अस्तु ।

वह हिंसा (जैसा कि पहिले भी लिखा जा चुका है) दो प्रकार की होती है । एक तो परिग्रहयुक्त अर्थात् रागद्वेषादि भाव करते हुए इच्छापूर्वक और दूसरी परिग्रहभावके बिना अपने आवश्यक कर्तव्य गमनादिमें अनिच्छापूर्वक । यह हिंसा हो जाती है किन्तु की नहीं जाती है । इससे कर्मबन्ध नहीं होता है परन्तु जो हिंसा इच्छा पूर्वक की जाती है उससे जीवके कर्मबन्ध होता है । इसप्रकार हिंसाके साथ कर्म-बंधका अविनाभाव न होकर परिग्रहके साथमें है । जहाँ परिग्रह होता है, परपदार्थोंमें रागद्वेष भाव होता है वहाँ बंध अवश्य होता है । हिंसा हो अथवा न हो । इसप्रकार परिग्रहभावके साथमें बन्धका अविनाभाव जानकर आजतक जितने भी योगी हुए हैं, उन्होंने यत्नपूर्वक परिग्रहका ही त्याग किया है, तभी वे योगी बने थे और आगे बन सकते हैं ।

शङ्का:—यहाँ रागादि भावोंको परिग्रहमें लिया है परन्तु श्री अमृतचन्द्राचार्यने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथमें राग द्वेषको वास्तविक हिंसा बताया है, जैसा कि इस आर्यामें लिखा है:—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥

उत्तरः—यदि रागादि भावोंको ही हिंसा कहा जायगा तो फिर तत्वार्थसूत्र नामक महाशास्त्रमें 'मूर्च्छा परिग्रहः' ७/१७ इस सूत्रमें अन्य पदार्थके प्रति उत्पन्न होनेवाले रागद्वेष परिणाम को परिग्रह कहा गया है, उसके साथ विरोध आजावेगा तथा 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' ७/२३ यह हिंसाका लक्षण बताया है वह भी व्यर्थ ठहरेगा क्योंकि प्रमत्तयोग इन्द्रियाधीन होनेका नाम है । इन्द्रियाधीन होकर किसीके भी प्राणोंको कष्ट पहुँचाना हिंसा है । ऐसा इस सूत्रका अर्थ है ।

जब रागद्वेष मात्रका नाम हिंसा है तब इन्द्रियाधीनरूप राग द्वेष उससे भिन्न कहाँ रह गया, जिसको यहाँ लिया जावे । जब राग द्वेष मात्र ही हिंसा कही गई है तब प्राण व्यपरोपण शब्द भी व्यर्थ ही है परन्तु बात ऐसी है कि अमृतचंद्राचार्यने जो हिंसाकी उपर्युक्त परिभाषा की है वह हिंसादि पांचों पापोंको भिन्न भिन्न न कहकर सबको एक करते हुए की है । तत्वार्थसूत्रकारकी परिभाषामें परिग्रहको ही हिंसा माना गया है क्योंकि वहाँ उन्होंने हिंसाको ही बंधका कारण ठहराया है । प्रवचनसारके कर्ताने हिंसाको बंधका नियामक कारण नहीं कहकर परिग्रहको बंधका अविनाभावी बताया है तथा उसके त्यागकी प्रेरणा दी है ।

शंकाः—हम लोगोंको तो अमृतचंद्राचार्यका विवेचन ही ठीक प्रतीत होता है क्योंकि रागद्वेषके अभावका नाम धर्म है । जो अहिंसारूप माना जाकर 'अहिंसा परमो धर्मः' जैनधर्मका यह प्रसिद्ध घोषणा वाक्य स्थिर रहता है अन्यथा इस प्रवचनसार तथा आपके कहनेमें तो 'असंगः परमो धर्मः' ऐसा होना चाहिए था ।

उत्तरः—जैनागमका कथन है कि दशम गुणस्थानके अन्त तक रागद्वेषरूप परिग्रहभावका सर्वथा अभाव होजाता है । फिर भी उसके शरीरस्थ मांसरुधिरादिमें निरन्तर उत्पन्न होते रहनेवाले निगोदिया जीवोंका निर्णाश बारहवें गुणस्थानमें होता है । इससे उसके शरीरका

अचित्तरूपमें परिणमन होकर तेरहवें गुणस्थानमें अरहंत अवस्थामें शेष बचे हुए कायिक और वाचनिक योग भी पूर्ण प्रासुक रूपमें सम्पन्न होजाता है।

मतलब यह है कि रागद्वेषरूप परिग्रहका अभाव मात्र परम (परमात्म दशाका) धर्म न होकर वह महत्तम धर्म ही कहा जा सकता है परन्तु पूर्णतया अहिंसकपना परमात्मदशामें ही स्पष्ट होता है अतः परमधर्म कहलाने योग्य तो अहिंसाभाव ही है। चित्तशुद्धिका कारण रागद्वेपरूप परिग्रहका अभाव है। ये राग द्वेष वाह्य पदार्थोंके निमित्तसे होते हैं अतः इनके अभावके लिए धन, मकान वस्त्रादिकका त्याग भी परमावश्यक है। इस पर यह कहा जासकता है कि जिसप्रकार शरीर रहते हुए भी इससे राग रहित होकर रहते हैं वैसे ही वस्त्र पात्रादि आवश्यक वस्तुओंको रखते हुए भी उनसे राग रहित रह सकते हैं, इसमें क्या विरोध है ? यह अब आगे वताते हैं—

गेण्हदिव चेलखण्डं भायणमत्थित्ति भणिदमिह सुत्ते।
जदि सो चत्तालम्बो हवदि कहं वा अणारम्भो ॥२४॥
वत्थक्खण्डं दुद्दिय भायणमण्णं च गेण्हदि व णियदं।
विज्जदि पाणारम्भो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥२५॥
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सो सेइ जदं तु आदवे खित्ता।
पत्थं च चेलखण्डं विभेदि परदोय पालयदि ॥२६॥
किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥२७॥

यदि सूत्रोदितं वस्त्र पात्रादि ग्रहणं मुनेः।
वहिरालम्बनत्वेन कुतो नारम्भता पुनः ॥२४॥
यः कोऽपि खलु भूभागे वस्त्रपात्रादि निर्वहेत्।
चित्तक्षोभकरं प्राण व्यपरोपणमाचरेत् ॥२५॥
रक्षण क्षालनोच्छोप धारणादि च कुर्वतः।
मनोनाङ्गी करोतीह मूर्च्छां नास्तीति वस्त्रिणः ॥२६॥

एवमारम्भमूर्च्छावानसंयमपरायणः ।
अहो परावलम्बी सोऽप्यात्मसाधकतामटेत् ॥२७॥

वस्त्र पात्रका ग्रहण साधुके सूत्रोदित माना जावे ।
वहिरालम्बन होनेसे फिर निरारंभ क्यों हो पावे ॥
यति होकर यदि वस्त्र पात्र कम्वलादिक अपनावेगा ।
तो प्राण व्यपरोपण करके चित्तक्षोभ वढावेगा ॥१२॥

धोना और सुखाना धारण रक्षण मांगन आदिकमें ।
वस्त्रादिकवालेके मूर्छारहितपना दीखे न हमें ॥
यों आरंभ परिग्रहवाला पुरुष असंयम भाव लिये ।
आत्मसिद्धि कैसे पासकता पर परिणति जिसके कि हिये ॥१३॥

सारांशः—वस्त्र पात्रादि वाह्य वस्तुओंको भी शरीरकी समकक्षतामें रखना भारी भूल है। शरीर धारण तो आयुकर्मकी विवशतासे होता है, इसका दूर होना भी आयु अवसानके आधीन है। अतः उसको तो आयु अवसानके पहिले ही नष्ट कर डालने की या उससे भी अधिक समय तक वनाये रखनेकी चेष्टा करना भी मूर्छा होती है। शरीरके अतिरिक्त वस्त्र पात्रादि और सव वाह्य पदार्थोंको तो मनुष्य अपनी इच्छासे ही ग्रहण करता है और आपही उनका त्याग कर सकता है।

ऐसी दशामें उन्हें धारण करते हुए भी मनुष्य सर्वथा मूर्छारहित रह सके इस बातको किसी भी ज्ञानीका मन कभी स्वीकार नहीं कर सकता है। इनको प्राप्त करके धारण करने, धोनें, पोंछने, सुखाने तथा बनाये रखने और नष्ट होजाने पर उसकी जगह दूसरा प्राप्त करने आदिमें व्यग्र रह कर स्पष्टरूपसे हिंसा करनेवाला बनकर मनुष्य पापारंभी होता हैं। ऐसा ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्मत आचारांग सूत्रादि ग्रंथोंमें लिखा हुआ है, वह ठीक ही है। फिर भी वस्त्र पात्रादिको मुनिके उपकरण कहकर उनका समर्थन करना एवं आत्मसाधनरूप निर्द्वन्द मोक्षमार्गमें उन्हें उपयोगी ठहराना कैसे वन सकता है ? यह हम नहीं जानते हैं। उपकरण तो उसे कहा जा सकता है जो हमारे मूल उद्देश्यमें किसी भी प्रकारसे सहायक हो। यही बताते हैं—

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥२८॥
अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥२९॥

न भूत्वाऽक्षाधीनभावो भूयाच्चित्तविनिग्रहः ।
उपक्रियेतापि मुनिः कदाचित्तेन वस्तुना ॥२८॥
यत्पापवर्द्धकं नस्या-दल्पादल्पमथो भवेत् ।
उपेक्षणीयं भवि भीरक्षणाद्यनपेक्षितम् ॥२९॥

जिससे संयमका न घात होकर प्रत्युत बढ़वारी हो ।
ऐसी पिच्छी आदि उपकरण रखना भी अपवाद कहो ।
हिंसारंभशून्य ममतातिग जो संयमका साधक हो ।
वही उपकरण साधु योग्य है जो गृहस्थका भोग्य न हो ॥१४॥

सारांशः—जो विलासप्रिय भोगी लोगोंके लिये योग्य न हो, जिस पर आराम करनेवाले संसारियोंकी दृष्टि नहीं जाती हो, यदि यत्नपूर्वक इसकी रक्षा नहीं करूंगा तो कोई इसको उठाकर ले जावेगा इसप्रकार की चिंता जिसके ग्रहण करनेमें न हो, जो इंद्रियोंका पोषक न होकर मनोनिग्रहका समर्थक हो, जिसमें पापकी कोई संभावना न होकर प्रत्युत संयमकी साधना होसके, जो अनायास रूपसे प्राप्त होने योग्य साधारणसी परिस्थितिको लिये हुए हो, ऐसा कमण्डलु आदि मुनिके ग्रहण करनेके योग्य होसकता है । यह भी उपेक्षासंयमकी प्राप्तिसे नीचे केवल अपहृत संयमकी दशामें ग्राह्य कहा गया है ।

पानी रखनेका कमण्डलु काष्ठ या तूम्बीका बना हुआ होता है । यह गृहस्थके कामका नहीं होता है । अतः उसके रखनेमें, उसकी रक्षा करनेके लिये चिंताकी किंचित् भी आवश्यकता नहीं होती है । उसे ले जाकर कोई क्या करेगा ? कदाचित् उसे भी कोई लेजावे तो जंगल में होनेवाली तूम्बीका और वनाया जा सकता है । इसमें केवल शौचके लिये जल रहता है । यदि उस जलको पीने आदिके काममें लेने लग जावे तो फिर वह उपकरण न रहकर भोग्य बन जाता है । इसीप्रकार

पिच्छिका जो सहज उन्मुक्त मोरके पंखोंकी होती है और जीवजन्तुओं की रक्षा करनेके लिए प्रतिलेखन करनेकी वस्तु है, यदि उसीको पंखा मानकर उससे हवा करना शुरू कर दिया जावे तो उस समय वह भी उपकरण न रहकर भोग्य वस्तु बन जाती है। तब वस्त्र पात्र आदिको उपकरण कैसे कहा जा सकता है? ये तो प्रत्यक्ष शरीरके आरामके लिये ही धारण किये जाते हैं—

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥३०॥
पेच्छदि णहि इह लोगं परंच समणिं ददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कम्मा वियप्पियंलिंगमित्थीणम् ॥३१॥

किमन्ये चेह देहोयमपुनर्भवकामिने ।
जिनै संगतयाख्यातो निर्द्वन्द्वत्वोपदेशकैः ॥३०॥
हेयं स्यात्ख्यातिलाभाद्यमत्रामुत्र स्वरादिकम् ।
यस्मिन्धर्मेऽभ्युपास्येत त्यागो वैराग्यमेव च ॥३१॥

जहाँ देहको स्नेह ही न हो आदरणीय न गाई हो।
वहाँ कौनसी और वस्तु जिसको सुयोग्य बतलाई हो॥
जहाँ त्याग वैराग्य भावकी ही हो रही प्रमुखता है।
तब फिर वहाँ सवस्त्र वेश कैसे प्रशस्य हो सकता है॥१५॥

सारांशः—केवल आत्मतत्वका उपदेश करनेवाले वीतराग शिरोमणि श्री महावीर स्वामीने बताया है कि जो महानुभाव 'अब मुझे पुनः जन्म धारण न करना पड़े' ऐसी भावना रखता है उसके लिये तो उसका वर्तमान शरीर भी पर पदार्थ है किन्तु इस शरीरको छोड़ देना तो (जैसा कि पहिले भी बता आये हैं) अपने वशकी बात नहीं है, आयु आधीन है। अतः इसके अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थ छोड़े जासकते हैं। इन्हें धारण करके रहना तो योगितासे दूर होकर भोगिताकी कक्षामें ढकेलने वाला ही है।

वस्त्रको गृहस्थ अपने लज्जालुपन आदिके वश होकर अपने अंतरंगमें रहनेवाले कामुकतादि दोषोंको अन्य लोगोंकी दृष्टिसे छिपाकर

रखनेके लिये ही पहिना करता है। जबतक अपने अंतरंगका विकार दूर न होजावे तबतक अपनी मानवताको ध्यानमें रखते हुए मनस्वी जीव वस्त्र धारण किये हुए रहता है और उसे रहना भी चाहिये। स्त्री जीवनमें मायाचारादि दोष नैसर्गिकरूपसे होते हैं अतः वे वस्त्रका त्याग नहीं कर सकती हैं। इसीलिए श्री महावीरके शासनमें स्त्रियोंको अपने उसी शरीरसे सिद्धिकी अधिकारिणी नहीं बताया है। यही अब दिखाते हैं—

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणादिट्ठा।
तम्हा तप्पडि रूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणम् ॥३२॥
पयडी पमाद बहुला एतेसिं वित्तिभासियापमदा।
तम्हा तावो पमदा पमादमइयत्ति णिद्दिट्ठा ॥३३॥
संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगं छाय।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणम् ॥३४॥
णविणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीव लोयम्मि।
णहि सउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणम् ॥३५॥

सिद्धिर्न जन्मना तेन महावीरस्य शासने।
स्त्रीणामस्ति यथायोग्यं धर्मसाधनमिष्यते ॥३२॥
प्रमाद बहुला यासां प्रवृत्तिः प्रकृतिस्तथा।
प्रमदेति कृताकोष-कारैराख्याप्यहो यतः ॥३३॥
मूढतेर्षा तथा भीति-र्लज्जामाया च मानसे।
संभवत्येव नारीणा-मतस्तासां न निर्वृत्तिः ॥३४॥
शरीरमपि नैतासां स्वायत्तं स्थातुमर्हति।
ततो वस्त्रादिनाच्छाद्य जीवनं ध्रियते भुवि ॥३५॥

इसीलिये महिलाओं को उस जन्मसे न सिद्धि कही है।
यथाशक्ति वृषके साधनकी यद्यपि वह भी मान्य मही है॥
देखो कि उन्हें कोपकार ही प्रमदा कह वतलाते हैं।
उनकी वृत्ति कहो प्रमादसे हीन कहाँ हम पाते हैं ॥१६॥

सूढ़पना ईर्षा भय माया लज्जादिक जिनमें भारी।
उन महिलाओंकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती शिवकारी॥
नहीं सर्वथा दोषरहित उनका जीवन हो सकता है।
इसीलिए वह सन्तत खुदको वस्त्रादिकसे ढकता है ॥१७॥

शङ्का:—जब कि आपके कहनेमें लज्जाका होना एक दूषण है तब क्या सभीको निर्लज्ज होजाना चाहिए ? गृहस्थको भी कपड़े खोल कर फेंक देने चाहिये ?

उत्तर:—अपने अजितेन्द्रियपनको सभ्योंके सम्मुख कमीके रूपमें अनुभव करना लज्जा कहलाती है। चंचलताको भी चंचलता न कहकर प्रत्युत उसका समर्थन करना निर्लज्जता है किन्तु चंचलताको अपने मन से दूर हटाकर निस्संकोच रहना गुण है। जैसे एक युवकमें भांग पीनेकी आदत होगई। फिर भी वह अपनी आदतको वृद्ध गुरुजनोंकी दृष्टिमें नहीं आने देता है, उसे बुरी समझकर छिपकरके कभी पी लेता है तो वह सलज्ज है। वही यदि धृष्टतापूर्वक बेरोकटोक सभी के सामने पीने लगे और दूसरोंको भी पीनेकी प्रेरणा करे तो समझो कि निर्लज्ज बन गया। यदि वह पीना ही छोड़दे तो न तो वह निर्लज्ज ही है और न सलज्ज ही, वह तो निर्दोष कहा जाता है।

इसीप्रकार दम्पति अपने बंधुवर्गके सम्मुख लज्जाके वश होकर परस्पर प्रेमकी बातें नहीं किया करते। ये ही जब एकान्तमें होते हैं तब निर्लज्ज होते हुए आपसमें आलिंगनादि करने लगते हैं। ऐसे ही एक भोला (छोटा) बालक न निर्लज्ज ही कहा जाता है और न सलज्ज ही, वह तो अभी उस विषयमें कुछ जानता ही नहीं है अतः प्रसन्नरूप है। बालकके समान निर्विकार होकर सदा प्रसन्न रहनेवाले पुरुष संयमी बनते हैं। स्त्रियोंके शरीरकी दशा कुछ ऐसी ही होती है कि वे इसतरह निर्विकार होकर नहीं रह सकती हैं। अतः उनके सकलसंयम नहीं बन सकता है। यही आगे बताते हैं—

चित्तस्सावो तासिं सिथिल्लं अत्तवं च पक्खलणं।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सहमम्णुवाणम् ॥३६॥

लिङ्गे हिय इत्थीणं थणंतरे णाहि कक्खपदेसेसु ।
भणिदो सुहमप्पादो तासिं कह संजमो होदि ॥३७॥
जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणे ण चावि संजुत्ता ।
घोरं चरदिव चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥३८॥
तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहि णिद्दिट्ठं ।
कुलरूववओजुत्ता समणी ओतस्समाचारा ॥३९॥

चापल्यमपि शैथिल्य-मार्त्तवस्रवणं पुनः ।
तथा सूक्ष्ममनुष्याणा–मुत्पादोऽपि मुहुर्मुहुः ॥३६॥
गुह्यदेशे स्तने नाभौ कक्षायामपि योषिताम् ।
सूक्ष्मजीव समुत्पादः तासां स्यात् संयमः कुतः ॥३७॥
एकादशाङ्गशास्त्राणां ज्ञानमाप्त्वा सुदर्शनम् ।
घोरं तपोऽपि कुर्वन्ती कर्मणां न क्षयं व्रजेत् ॥३८॥
कुलरूपवयोयुक्ताऽपि सती द्विजनुष्करम् ।
समाचारमुरीकुर्या – देकशाटक धारिणी ॥३९॥

चित्तचपलता गात्रशिथिलता आर्तवरज स्रवण जिनके ।
योनि आदिमें सूक्ष्म डिम्भ उत्पत्ति हुआ करती उनके ॥
गुह्य जगह कुचदेश नाभिमें अथवा जिनकी कांखोंमें ।
कीट जन्तु उत्पत्ति सदा फिर क्या संयम महिलाओंमें ॥१८॥
सम्यग्दर्शन एकादशाङ्गबोध घोरउपवासादी ।
कर सकती है किन्तु पूर्ण निर्जरा न वह रतिकीगादी ॥
इसीलिये वनिताके बारे में ऐसा जिन शासन है ।
कुलरूपावस्थायुतभी वह एकाम्बर धारिणी रहे ॥१९॥

शङ्का:—सुना जाता है कि श्वेताम्बर शास्त्रोंमें स्त्रीके लिए उसी शरीरसे मुक्तिका विधान पाया जाता है, यह कहाँ तक ठीक है ?

उत्तर:—श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य उववाई सूत्रमें सूत्र नं० १२ पृ. २०५में लिखा हुआ है कि स्त्रीके वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं होता है। वज्रर्षभनाराचसंहननधारी पुरुष ही मोक्ष पासकता है। श्वेताम्बरोंके

ही विमलसूरी रचित पउमचरियमें पर्व ७७ में श्रेणिक राजासे गोतम गणधरके प्रति प्रश्न करवाया गया है कि हे प्रभो! तपस्या करके भी नारी कौनसी गतिको प्राप्त कर सकती है? इस पर उत्तर मिलता है कि सीता जैसी घोरसे घोर तप करनेवाली स्त्री भी अपने उस पुण्यसे स्वर्गोंमें जासकती है, आगे नहीं।

अण्णंपि सुणसु सामिय! जाहवई पइव्व या इहं णारी।
सा सील संजमरया साहुसु कवणं गई लहइ॥
तो भणई इवं भूई जा दढसीला पइव्वया महिला।
सीया य हवयि सरिसी सा सग्गं लहई सुकयत्था॥

इन्हींके आगम ग्रंथोंमें स्त्रीके अधिकसे अधिक ग्यारह अंगका ज्ञान होना लिखा हुआ है। ऐसा ही दिगम्बर सम्प्रदायमें एवं सर्व सम्मान्य तत्वार्थसूत्र महाशास्त्रमें लिखा हुआ है कि विना पूर्वज्ञानके शुक्लध्यान नहीं हो सकता है और शुक्लध्यानके विना मुक्ति नहीं होती है, यह अटल नियम है। यह बात दूसरी है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके कथादि ग्रंथोंमें कहीं कहीं और तरहसे भी कथन पाया जाता है परन्तु ज्ञानीको ठीक आगमानुकूल अर्थ ही समझना चाहिये। मूलभूत आगमदृष्टि रखने से श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी दिगम्बराम्नाय जैसा विधान पाया जाता है। कोई भेद नहीं है। अस्तु। राजमार्गसे कर्मक्षय करनेका अधिकारी कौन होसकता है? ऐसा आगे बताते हैं—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणं गोतवोसहोवयसा।
सुमुहो गुंछा रहिदो लिङ्गग्गहणे हवदि जोग्गो॥४०॥
जो रयणत्तयणासो सो भङ्गो जिणवरेहिं णिद्दिट्ठो।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणा अरिहो॥४१॥

त्रैवर्णिको दृढाङ्गो यो वयसापि समन्वितः।
घृणाहीनः प्रसन्नास्यो लिङ्गमादातुमर्हति॥४०॥
वृषणादौ दोषयुक्तो नरोप्येत्यपवादिताम्।
रत्नत्रयं निश्चयाख्यं न कदापि समर्हति॥४१॥

तीनों वर्णोंका मानव ही जो कि अविकलाङ्गी होवे।
ग्लानिरहित वह जिनलिंगी होकर निजकर्म धूलि धोवे॥
वृषणादिमें दोषयुत नर भी अपवादी हो रहता है।
निश्चय रत्नत्रय न उसे भी जिनशासन यों कहता है॥२०॥

सारांशः—उपादानरूपमें यह जीव यद्यपि अपने आत्मबलसे ही उन्नतिपथको अपनाकर समुन्नत वनता है। फिर भी निमित्तरूपमें अनिवार्य ऐसी और भी अनेक बातोंकी आवश्यकता होती है जिनके बिना साधक दशामें उन्नति करना चाहते हुए भी यथेष्ट उन्नति नहीं कर सकता है। जैसे उत्तम संहननके विना तथा समीचीन नर पर्यायके बिना भी शुक्लध्यान नहीं वन सकता है। ऐसे ही यथाजातरूपादि अवस्था धारण किये विना भी काम नहीं चल सकता है। यही आगे बताते हैं—

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं॥४२॥
इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो॥४३॥

वस्तुतयोपकरणं जातरूपत्वमेव तत्।
गुर्वाज्ञा विनयः सूत्राध्ययनं यतितां प्रति॥४२॥
नात्र यः ख्यातिलाभस्यामुत्र भोगस्य वांछकः।
उचिताहार संचारो निष्कषायो यतिर्भवेत्॥४३॥

शिवपथमें उपयोगी यथाजातपन गुरुवचन श्रद्धा।
आगमपठन विनययुत होकर जिसमें कुछ भी नहिं विपदा॥
यहाँ ख्यातिलाभादि न चाहे वहाँ न भोगेच्छुक होवे।
योग्याहारविहार करे यति निज कषायमलको धोवे॥२१॥

शङ्काः—आपके कहनेमें वस्त्राभूषणोंसे मुनिपनेमें दोष आता है तो फिर ध्यानस्थ पाण्डवोंको उष्ण लोहके आभूषण पहिना दिये गये थे, उस समयमें वे मुनि कैसे रहे थे? वे तो मुनि ही नहीं किन्तु महान् योगी थे क्योंकि उन आभूषणोंको पहिने हुए भी उनके प्रति उनका किंचित् भी रागद्वेष भाव नहीं था। इसीप्रकार वस्त्रादि पहिनकर भी अपने भावोंमें

उनसे रागद्वेष नहीं रखनेवाला और भी कोई मुनि हो सकता है और कर्मोंका नाश करके मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है, इसमें क्या बाधा है ?

उत्तरः—पाण्डवोंके शरीरों पर पहिनाये हुए उष्ण लोहमय कटक वगैरहको आभूषण कहना ही बड़ी भारी भूल है। वह तो घोर उपसर्ग था। जिसे शांतिपूर्वक सहन करना प्रत्येक साधकका परम कर्तव्य माना गया है। आभूषण तो वे होते हैं जो प्रेमपूर्वक अपने शरीरको अलंकृत करनेके लिए स्वयं धारण किये जाते हैं अतः परिग्रहरूप होते हैं। एक बलात् अनिवार्यरूपसे आई हुई बातके साथमें, स्वेच्छापूर्वक की जानेवाली बातका समन्वय करना तो रात और दिनको एक कक्षामें रखना हो जाता है।

स्वदारसंतोषी श्री सुदर्शन सेठको दासी द्वारा मंगवाकर अभया रानीने उनके ध्यानस्थ शरीरसे आलिंगन आदि अनेक कुचेष्टायें कीं। ऐसी दशामें इन कुचेष्टाओंको सुदर्शनके लिए बताकर एक परस्त्रीलम्पट व्यभिचारीको निष्पाप ठहरानेका बड़ाभारी दुःसाहस है। वास्तवमें देखा जावे तो न तो किसीसे दूर भागना ही निष्परिग्रहता कही जा सकती है और न किसीको पकड़े रहना ही क्योंकि परिग्रह तो आत्मेतर पदार्थोंमें इष्टानिष्ट कल्पनाका नाम है।

संसारी जीव संसारके पदार्थोंमेंसे किसीको तो बुरा जानकर उससे दूर भागनेकी चेष्टा करता है और किसीको अच्छा मानकर उसे पकडे रहने की। इस रागद्वेषभावका नाम ही परिग्रह है। जैसे एक मनुष्य शीतकालमें तो वस्त्रोंको बड़े प्रेमसे पहिने रहता है और जब उष्णकाल आजाता है तब उन्हें बुरे (असुहावने) जानकर उनको दूर करनेकी भावना करता है। वह तो दोनोंही दशाओंमें परिग्रहवान है। यदि गर्मीसे घबराकर उन्हें उतारकर फेंकदे और नंगा होजाय तब तो वह घोर परिग्रहवान् समझा जाता है क्योंकि उसके उन कपड़ोंसे द्वेषकी मात्रा और मनकी चपलता अत्यधिक होजाती है।

नरकोंमें नारकियोंके पास कौनसा परिग्रह है ? क्या उनका वहाँ पर कोई भी भाई बंधु है या धन सम्पत्ति मकान वगैरह है ? कुछ भी नहीं है। फिर भी वे लोग उस नरक स्थानसे तथा वहाँ पर रहनेवाले अन्य नारकी लोगोंसे दूर रहना चाहते हैं। इतना ही नहीं किन्तु अपने उस शरीरको भी घोर कष्टदायक समझकर उससे भी मुक्ति चाहते हैं। उनका यह द्वेपभावही उनके लिए महा परिग्रह है परन्तु छद्मस्थ आत्मा ने जिन स्त्री, पुत्र, धन, मकान, आभूपण, वस्त्र आदि को अपने लिए लाभप्रद समझकर धारणकर रखे हैं, इनमें अपनापन न होने पर इनसे मुक्त होजाना सरल कार्य है। इनको धारण करनेवालेको सर्वथा निष्परिग्रही वताकर उसे इस दशामें भी मुक्तिका अधिकारी वताना भारी भूल है। अस्तु। आगे योग्य आहार विहार कैसा होता है? यह वताते हैं—

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तओ तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥४४॥
कोहदिएहिं चउविहि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं ॥४५॥
केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति रहिदपरिकम्मो।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥४६॥

अनेपणं चाविहारमात्मानमभिवांछतः।
शुद्धैपणासमीर्या च युक्तास्यादप्रमादिनः ॥४४॥
रतो राज्यादि वार्तासु कोपादिपरिणामवान्।
स्नेहवान्योऽथ निद्रालुः सोऽलसोऽक्षैर्निपीडितः ॥४५॥
यथाशक्ति तपः कुर्वन् देहेऽपि ममतातिगः।
समत्वं शत्रुमित्रादावुद्वहन् साधुरिष्यते ॥४६॥

लक्ष्य अनेपणतापर रखकर शुद्ध एपणा किया करे।
सातिशयाप्रमत्तपनके पानेको अनशनभाव धरे ॥
ऐसेही विहार आदिकमें अविहारी आदिक पनको।
अनुशीलन करनेवाला यति पा लेता है निज धनको ॥२२॥

कोपादिकमें विकथाओंमें इन्द्रिय विषयोंमें रत हो।
स्नेह और निद्राके वश जो साधु उसे आलसी कहो॥
देहमात्र परिचारी होकर यथाशक्ति तपनिरत रहे।
शत्रुमित्रमें तुल्य साधु हो नहीं कहीं ममकार गहे॥२३॥

सारांशः—आहारादिमें प्रवृत्त साधु उस समय तो उस कार्यमें स्नेहयुक्त होनेके कारण प्रमत्त ही होता है। फिर भी उसका वह आहारादिका ग्रहण करना आत्मध्यानकी संपत्तिको लक्ष्यमें रखकर किया जाता है। अतः कारणमें कार्यका उपचार मानकर भविष्यत्की अपेक्षा से उस समय भी वह अप्रमत्त कहा जाता है। यदि शरीरेन्द्रिय सम्पोषणके लिए ही भोजनादि करता है तब तो वह साधु नहीं है किंतु स्वादु है। अतः साधुको युक्ताहार विहारी होना चाहिए। युक्ताहार कैसा होता है? यह आगे बताते हैं—

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं॥४७॥
पक्केसु व आमेसु व विपच्चमाणासुमंसपेसीसु।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणम्॥४८॥
जो पक्कमपक्कं वा पेसीमंसस्सखादिफासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाण मेणग्गकोटीणम्॥४९॥
बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि॥५०॥

मधुमांस मद्यहीनं दिनेऽत्तुमर्हमेकदा।
भिक्षयात्तं यथालब्धं साधुना नीरसं पुनः॥४७॥
पक्वे वाऽऽमे पच्यमाने भृशमुत्पत्तिरिष्यते।
मांसखण्डे किलाभिज्ञैस्तज्जाति तनुधारिणाम्॥४८॥
अत्ति पक्वमपक्वं वाऽऽमिषं स्पृशति चापि यः।
अनेककोटि जीवानां हन्ता भवति स ध्रुवम्॥४९॥

बालो वृद्धः श्रमार्त्तोवा रुग्णो वापि च यो मुनिः।
मूलच्छेदो यथा न स्यात् तथा चर्यां समाचरेत् ॥५०॥

मद्य मांस आदिक विहीन नीरस दिनमें एक ही दफा।
अल्परूप मुनिका भोजन भिक्षोचित हो यों कहा सफा॥
कच्चे पक्के पच्यमान पलमें भी हे बुध याद रहो।
उसी जातिके निगोदिया जीवोंका सन्तत जन्म अहो॥२४॥
यों बहुजीवोंकी हिंसासे वह तो नहीं अछूता है।
हर हालतमें पलपेशी जो खाता है या छूता है॥
बाल वृद्ध वा रुग्ण खिन्न मुनि जैसा अपनेसे होवे।
वैसा करे आचरण फिर भी मूलको न बिलकुल खोवे॥२५॥

सारांशः—मुनिको चाहिए कि स्वयं न बनाकर तथा न किसी दूसरेसे भी बनवाकर, बिना याचना किये, भिक्षावृत्तिसे जैसा भी अपने अन्तराय कर्मके क्षयोपशमानुसार मिल जावे, वह भी जो मद्य मांसादि दोषोंसे सर्वथा रहित शुद्ध हो, ऐसे अन्नका आहार दिनमें एकबार कर लेवे। वह भी पूरा पेट भरकर न खावे तथा स्वादके लालचसे न खावे क्योंकि मुनिके भोजन करनेका हेतु केवल ध्यानसिद्धि ही रहता है। वह ध्यान जिह्वालम्पटतासे वारबार या एकही बारमें भी खूब ठूंसकर खानेवाले, इन्द्रियाधीन, आलसी जीवसे कभी नहीं बन सकता है।

याद रहे कि भिक्षाका वास्तविक अर्थ है, दाताके द्वारा दीगई वस्तुको ग्रहण करना। न कि किसीसे मांगना क्योंकि मांगना तो याचना शब्दका अर्थ होता है जो उससे भिन्न है। जैसे प्रसिद्ध कहावत है कि—माँगनेसे तो भीख भी नहीं मिलती है अर्थात् मांगना तो भिक्षुको दूषित करनेवाला है।

बहुत दिन पहिलेकी बात हैं शीतकालका समय था अतः किसी धर्मात्मा बहिनजीने मेरे पास बैठे हुए एक नैष्ठिक ब्रह्मचारीसे कहा कि बाबाजी! सर्दी पड़ रही है। यदि आपको वस्त्रकी आवश्यकता हो तो मैं ला देऊं। उस ब्रह्मचारीने उत्तरमें कहा कि बहिनजी! मुझे इस समय कोई आवश्यकता नहीं है। मेरे पास तो मेरे योग्य वस्त्रादि सब हैं। इतनेमें ही वहीं बैठा हुआ एक दूसरा ब्रह्मचारी बोला कि—

बहिनजी ! मुझे चाहिए, मेरे लिये ला दो। यह सुनते ही बहिनजीका उपयोग बदल गया। उन्होंने सोचा कि यह कोई लालची (संग्राहक) ब्रह्मचारी होसकता है। अतः बहाना बनाकर बोली कि—अच्छी बात है, बुननेको दिया हुआ है सो आने पर देखूंगी मतलब यह है कि आरंभ परिग्रहवाला गृहस्थ अपने सम्मुख उपस्थित हुए व्यक्तिके गुणोंसे प्रसन्न होकर या दयाभावके द्वारा स्वयं प्रेरित होकर मैं इसे देऊंगा तो मेरी कठिन कमाईके इस संविभागांशका सदुपयोग होगा। ऐसा सोचकर भिक्षा देता है। भिक्षा देना गृहस्थका कर्तव्य है और यथाभाग्य प्राप्त हुई भिक्षा से निर्वाह करना आरंभत्यागीका तथा अनाथका कर्तव्य है किन्तु मांगना एवं सामनेवाले व्यक्तिके तथा अपने आपके भी संक्लेशका साधन होना तो नीचता है, पापवृत्ति है। अस्तु।

हमारे यहाँ विधेय मार्ग दो तरहके बतलाये गये हैं। एक आम (साधारण) दूसरा सामयिक विशेष। ये दोनों किसप्रकार अविरोधरूप से काममें लिए जाते हैं, यह अब बताते हैं—

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥५१॥
एयग्गदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥५२॥

देशं कालं श्रमं स्वस्य क्षमतामुपधिं तथा।
विहाराहारयोर्ज्ञात्वा वर्तते सोऽल्पदोषवान् ॥५१॥
मुनिरेकाग्रतामाप्त एकाग्र्यं निश्चितार्थिनः।
आगमान्निश्चयोऽर्थस्य सर्वश्रेष्ठ किलागमः ॥५२॥

देशकालको लेकर तनु बल या थकानके विचारसे।
समुचित चर्या करनेवाला लिप पावेगा न पापसे॥
स्थिरमनवाला यति हो स्थिरता निश्चितार्थके होती है।
निश्चय आगमसे अर्थोंका यों आगमही ज्योती है॥२६॥

सारांशः—भगवान् महावीरके अनेकान्तात्मक शासनमें हर प्रसंगके विषयमें दो प्रकारका विधान है। एक तो प्रवेशेच्छु या अल्पशक्तिक लोगोंके द्वारा आचरण करने योग्य सुकोमल। दूसरा दक्षताको प्राप्त हुए शक्तिशाली महापुरुषोंके द्वारा अपनाने योग्य कठिन। जैसे ध्यान करनेके विषयमें कहीं तो लिखा हुआ है कि सिंह, व्याघ्र, रीछ वगैरहसे व्याप्त, निर्जन, भयंकर बनमें बैठकर ध्यान करना चाहिये और कहीं लिखा हुआ है कि जहाँ न तो अधिक ठंड हो, न अधिक गर्मी, न डाँस मच्छरादिका ही अधिक संचार हो, ऐसे सुहावने एकान्त चैत्यालय आदिमें बैठकर ध्यान करे।

जो सहिष्णु है वह भी यदि सरलमार्ग पर ही लगा रहे तो सफलता कैसे प्राप्त कर सकता है? किन्तु यदि साधारण साधक भी उसीकी वरावरी करने लगे तो वह ऋषभदेवकी बराबरी करना चाहने वाले कच्छादिकी तरह पथभ्रष्ट ही हो जावे। अतः ज्ञानीको चाहिए कि अपने देश काल और शरीरकी स्थितिको सँभालते हुए जैसा अपनेसे वन सके वैसा आचरण करे। अपने मनको स्थिर बनानेकी चेष्टा करे। 'अपनेसे वन सके' इसका यह अर्थ नहीं है कि आगमको भूलकर मनुष्य स्वेच्छाचारी वन जावे। आगमके आदेशको तो हर अवस्थामें अपने सम्मुख रखकर ही चलना चाहिये क्योंकि पथप्रदर्शक तो आगम ही होता है। यही आगे बताते हैं—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥५३॥
आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खु ॥५४॥

आत्मानं च परं कस्मात् पश्येदागमतोऽतिगः।
येन कर्मक्षयं कृत्वा भिक्षुरानन्दमाश्रयेत् ॥५३॥
आगमो हि यतेश्चक्षुः चर्मचक्षुः शरीरिणाम्।
देवानामवधिश्चक्षुः परमात्माभितोऽक्षिमान् ॥५४॥

आगमबिना स्वपरका निर्णय कभी नहीं होने पावे।
आगमावहेलक नर फिर क्यों निजानन्द पद अपनावे ॥
क्योंकि नयन है शास्त्र साधुका जैसे इन्द्रिय लोगोंका।
अवधि देवताओंका जैसे सकल बोध शिव भोगोंका ॥२७॥

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥५५॥
आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥५६॥

अनेकगुणपर्याय–युक्ता जीवादयो ह्यमी ।
आगमेन प्रसिद्ध्यन्ति तान्वि जानन्तु साधवः ॥५५॥
यस्यागमातिगा दृष्टिस्तस्य संयमिता कुतः ।
असंयतस्य साधुत्वं नैव भवितुमर्हति ॥५६॥

नाना गुण पर्ययवाले जीवादि पदार्थोंको जाने ।
आगमके द्वारा ही मुनिजन और भाँति कैसे माने ॥
यदि न आगमानुकूल चर्चा तो फिर कैसा संयम भी।
संयमके अभावमें जगमें साधुपना हो नहीं कभी ॥२८॥

सारांशः—आगमपूर्वक तत्वार्थश्रद्धानके साथ साथ ही संयतपना होता है और संयतपना होनेसे ही सफलता मिलती है। इन तीनोंमेंसे यदि एक भी न हो तो कार्य नहीं बन सकता है। यही आगे बता रहे हैं—

णहि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥५७॥
जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥५८॥

शुकपाठेन को लाभः श्रद्धानेन च केवलम् ।
सितास्ति मधुरेत्येवं मुखं सुस्वादु किं भवेत् ॥५७॥
अज्ञानतपसा कोटि–जन्मनापि न सिद्ध्यति ।
त्रिगुप्तिगुणतो ज्ञानी क्षणादेनोक्षयं व्रजेत् ॥५८॥

आगमज्ञ हो किन्तु वस्तु-पर ला विश्वास नहीं रीझे।
तो क्या लाभ तथा विश्वासी संयम विना नहीं सीझे ॥
मूढभावसे कोटि जन्म तक तपकर कर्म नहीं छूटे।
ज्ञानीके उच्छ्वासमात्रमें तीनगुप्तिसे वह टूटे ॥२६॥

सारांशः—द्रव्यलिंगी मुनि श्री जिनवाणीके ग्यारह अंग और नौ पूर्वतकके पढ़नेवाले तथा घोर आतपनादि योगरूपसे तपस्या करनेवाले होकर भी भवविच्छेद नहीं कर सकते क्योंकि आगमका व्याख्यान करते हुए भी उनके अंतरंगमें तदनुकूल समुचित श्रद्धान नहीं होता है। समुचित श्रद्धान और द्वादशांगका ज्ञान होकर भी यदि चारित्र धारण नहीं किया जावे तो मुक्ति नहीं मिल सकती है।

श्री तीर्थंकर भगवान्‌को भी चारित्र धारण करना पड़ता है। संसारके सभी पदार्थोंसे सम्वन्धका विच्छेद करना पड़ता है। यदि किसी भी पदार्थके साथ किंचित् भी मोह चित्तमें शेष रह जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र ये तीनों होकर भी जब तक चारित्रकी पूर्णता नहीं होजाती है तवतक पुनर्जन्मका अभाव नहीं हो सकता है। यही आगे स्पष्ट करते हैं—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥५६॥
पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥६०॥
समसत्तुवंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥६१॥
दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥६२॥

लेशमात्रं च मूढत्वं देहादिषु समस्ति चेत्।
सिद्धिं न सोऽर्हतीत्यत्र सर्वागमधरोऽपि सन् ॥५९॥

त्रिगुप्तिः पंचसमितिः निष्कषायो यतोऽक्षजित् ।
सुदृष्टिज्ञानसम्पन्नो लभते संयताभिधाम् ॥६०॥

निन्दाप्रशंसयो र्दुःख-सुखयोः शत्रुमित्रयोः ।
तृणकंचनयोर्मृत्यु - जनुषोः समधीर्यतिः ॥६१॥

सुदृग्ज्ञानचरित्राणां युगपत्त्रितये स्थितः ।
एकाग्रतामवाप्तोऽपि पूर्णं श्रामण्यमस्य हि ॥६२॥

अंशमात्र भी देहादिकमें जिसके ममता बाकी हो ।
वह न सिद्धि पा सके भले ही आगमका व्याख्याकी हो ॥
पंच समिति गुप्तित्रययुत पंचेन्द्रिय निग्रहकारक हो ।
निष्कषाय सद्दृष्टिबोधयुत उस मुनिको संयमी कहो ॥३०॥
तृण कंचन, मरना जीना, अरि मित्र, दुःख सुख सम जाने ।
निन्दा और प्रशंसाको भी जो यतिवर समान माने ॥
दर्शन बोध वृत्त तीनोंको एकसाथ सम्पन्न किये ।
हुए रहे निश्चल उसके तब पूरा यतिपन कहो हिये ॥३१॥

सारांशः—संसारके अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या किन्तु अपने साथमें एकमेक होकर रहनेवाले शरीरके प्रति भी जिसके उपयोगमें लगाव होता है—इस शरीरसे मैं तपस्या कर रहा हूँ अतः मेरे लिए यह शरीर बड़ा उपयोगी है, इत्यादि रूपसे किंचित् भी ममत्व बना रहता है तो वह भी साधककी सफलतामें बाधक होजाता है । जिसकी दृष्टिमें न तो कोई शत्रु ही है और न कोई मित्र ही है, जो तृणको व्यर्थ समझकर कंचनको मूल्यवान् न समझता हो, जिसके लिए अपनी निन्दा और प्रशंसा भी समान ही हो, जो जीवन और मरणमें कुछ भी अन्तर न समझता हो और जिसकी दृष्टिमें सांसारिक सुख तथा दुःखमें भी कोई अन्तर न रह गया हो, इसप्रकार की अटल समता प्राप्त हो चुकी हो, वही सच्चा साधक संयमी कहलाने का अधिकारी होता है । इसीका नाम वास्तविक मुनिदशा है । इसीको चित्तकी एकाग्रता कहते हैं । इसीका नाम निष्कषायता (वीतरागता) है । इस अवस्थाको प्राप्त होनेवाला महाशय ही कर्मोंसे छुटकारा (मुक्ति) पा सकता है । यही आगे बताया जा रहा है—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज ।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥६३॥
अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोषमुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥६४॥

अन्यद्द्रव्यं समासाद्य द्वेष्टि मुह्यति रज्यते ।
श्रमणोऽपि भवन्नज्ञो वध्यते भूरि कर्मभिः ॥६३॥
न मुह्यति नवा द्वेष्टि रज्यते न मनागपि ।
स एव श्रमणोऽसौ हि कर्मनाशकरो भवेत् ॥६४॥

किसी वस्तुके निमित्तसे हो मूढ राग या रोष करे ।
यति होकर भी वह अज्ञानी कर्मवंध क्यों नहीं करे ॥
निर्मोही होकर न कहीं भी राग और न द्वेष करे ।
वही साधु होता है जगमें वही नियमसे कर्म हरे ॥३२॥

सारांशः—ग्रंथकारका कहना है कि जो राग द्वेष और मोहसे सर्वथा रहित होकर कर्मनाश करनेवाला है वही मुनि कहलानेका अधिकारी है । इस पर शंका होसकती है कि आपने ही जो श्रमणोंके अट्ठाईस मूलगुण वताये हैं उनमें षडावश्यक कर्म भी हैं । उनमें अरहंतों की वन्दना भक्ति आदि करते समय धर्मानुराग रहा करता है तो उस समय उनके मुनिदशा है या नहीं ? इसका उत्तर आगे दे रहे हैं—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥६५॥
अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुदजुत्ता भवे चरिया ॥६६॥
वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥६७॥
दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥६८॥

यद्यपि श्रमणाः शास्त्रेऽप्युक्ताः शुभोपयोगिनः ।
किन्तु ते सास्रवाः शुद्धो–पयोगा हि निराश्रवः ॥६५॥
अर्हदादिषु या भक्तिः प्रीतिः प्रवचनाङ्गिषु ।
शुभोपयोगयुक्ताऽसौ श्रामण्येऽस्तु परिस्थितिः ॥६६॥
अभ्युत्थानानुगमन वन्दनादि प्रवृत्तिभिः ।
पादसंवाहनाद्यं च श्रमणेपूपयुज्यते ॥६७॥
सन्मतज्ञानसन्देशः शिष्यग्रहणपोषणम् ।
जिनपूजाद्युपदेशोऽप्यस्तु चर्या सरागिणाम् ॥६८॥

शुद्धोपयोगवाले यतिपति शुभोपयोगी भी यति हो।
वे हो आस्रवहीन और वे यहाँ शुभास्रव संगति हो॥
यतिपनमें भी स्वालम्बनसे जबकि शांत हो रहा चित्त।
प्रवचन वत्सलता जिनस्तवादिकमय शुभोपयोगी वृत्त॥३३॥
वन्दन नमनाभ्युत्थानादिक गुणियोंके प्रति सच्चारित्र।
गुणगाहकपनको लेकरके साधिगमोंके लिए पवित्र॥
शिष्यानुग्रह संग्रह करना सद्दर्शनबोधाभिनयी।
सराग संयमियोंकी चर्या जिनपूजाद्युपदेशमयी॥३४॥

सारांशः—जो लोग शुद्धोपयोगके लक्ष्यसे यति परिणतिकी प्रतिज्ञा लेकर तथा संसारके कार्योंसे सर्वथा दूर होकर भी कषायांशके उदयसे निर्मल ज्ञान दर्शनमय आत्मद्रव्यमें तल्लीनतारूप शुद्धोपयोग दशाको प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं किन्तु मनकी चंचलताके कारणसे अपनेको नीचे न गिरने देनेके लिए श्री अरहंत भगवान्‌की भक्ति करना, साधर्मी जनोंके साथ धर्मचर्चा करना, अपनेसे विशिष्ट गुणवान्‌को देखकर उठकर खड़े होना, नमस्कार करना, उनके सम्मुख विनम्र होकरके रहना, उनकी पगचंपी आदि करना, अपनेसे अल्पशक्तिवालोंको सँभाले रहना, उन्हें समुचित धार्मिक शिक्षा देना, श्रावकोंको दान पूजा आदिका उपदेश देना इत्यादि कार्योंमें रुचि रखते हैं वे शुभोपयोगी मुनि होते हैं।

इस अवस्थामें वे मुनि नहीं होते, ऐसा नहीं कहा जा सकता है किन्तु ये शुद्धोपयोगी मुनिकी तरह पूर्णरीत्या निरास्रव नहीं होते हैं और घोर वंधाभावके साथ किंचित् शुभबंधके करनेवाले भी होते हैं।

'धम्मेण परिणदप्पा' इत्यादि ग्यारहवीं गाथामें लिखे अनुसार ये लोग सम्पन्न धर्मात्मा न होकर परिणमनशील धर्मात्मा होते हैं। साक्षात् मोक्षके न पानेवाले होकर लौकान्तिकादि स्वर्गीय अवस्थाके अधिकारी बनते हैं।

यद्यपि शुभोपयोगी गृहस्थ भी हो सकता है परन्तु गृहस्थमें और मुनिमें यह विशेषता होती है कि शुभोपयोगी गृहस्थ दान पूजादि शुभोपयोगके कार्योंमें प्रवृत्त होता हुआ प्रासंगिकरूपसे बाह्य षट्कायिक जीवोंकी विराधना भी करता है परन्तु मुनि वैयावृत्य आदि शुभोपयोग रूप कार्योंमें भी इसप्रकार प्रवृत्ति करता है कि उसमें किसी भी जीवकी विराधना न हो। यदि शुभोपयोगरूप कार्यके सम्पादनके प्रलोभनमें फँसकर किसी भी प्रकारसे बाह्य हिंसामय प्रवृत्तिको अपना लेवे तो उस समय वह मुनि न रहकर गृहस्थ ही कहा जावेगा। यही आगे बताते हैं—

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥६९॥
जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥७०॥

उपकुर्वन्नपि किल साधु संघं चतुर्विधम्।
प्राणिबाधातिगत्वेन वर्तते मुनिराडसौ ॥६९॥
वैयावृत्यादि वृत्तेऽपि प्राणिबाधाकरो भवन्।
गृहितामेति साधुश्च कार्यं तद् गृहिणां हि यत् ॥७०॥

जो कि चतुर्विध संघशिरोमणि होता है सुविशुद्धमति।
षट्कायिक जीवोंका रक्षक सरागचारित्राधिपति ॥
सेवा करनेमें भी यदि कुछ जन्तु विराधक रहता है।
तो गृहस्थ है क्योंकि उसीका धर्म उसे यों कहता है ॥३५॥

वैयावृत्यके पात्र कौन कौन होते हैं? किन किनका वैयावृत्य करना चाहिये? यह अब बताते हैं—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥७१॥
रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥७२॥

जैन सागार साधूनां निस्स्वार्थमनुकम्पया ।
वैयावृत्यं विधातव्य-मेनोऽप्यल्पं यदीह च ॥७१॥
रुजा क्षुधा तृष्णया वा परिश्रान्त तयार्दितम् ।
दृष्ट्वा साधुरात्मशक्त्या श्रमणं प्रतिपद्यताम् ॥७२॥

यद्यपि आंशिक हिंसा फिर भी करुणासे उपकार करे ।
स्वार्थरहित सागार तथा अनगार जनोंका कष्ट हरे ॥
भूख प्यास रोगश्रमादियुत यतिको जहाँ देख पावे ।
धर्म वहाँ है साधुका कि भरसक उसका कष्ट हटावे ॥३६॥

सारांशः—यहाँ मूल गाथाओंमें लिखा हुआ है कि—जैन गृहस्थ और साधुओं पर दया दिखलाते हुए यथासाध्य उनकी सेवा करना चाहिये । इस पर यह शंका हो सकती है कि किसी अजैन भाईको सेवा करना या उस पर दया दिखलाना बुरी बात है क्या ? किन्तु ऐसा नहीं है । दया तो सभी पर करना चाहिये ।

उत्तरः—तुम्हारा कहना ठीक है । श्री महावीर स्वामीके शासन में दयाके पात्र तो प्राणी मात्र ही हैं । सबको सभी पर दयालु होना चाहिये । किसीको भी कोई कष्ट न हो इसप्रकारका सर्वोदयी सुन्दर विचार तो जैनधर्मका प्राण है, स्वागत करने योग्य है, किन्तु यहाँ प्रसंग वैयावृत्यका है । सेवा सुश्रूषा करनेका सामनेवालेके कार्यमें सहयोग प्रदान करनेका है । सो अब अजैन कौन और उसके कार्यमें सहयोग देना कैसा, यह देखना है ।

भगवान्‌का धर्म अहिंसामूलक है, अतः जहाँ तक हो सके अहिंसा का व्यवहार करनेवाला हो और असमर्थ अवस्थामें भी कमसे कम अहिंसाका पक्षपाती तो अवश्य हो, वह जैन है । इसके विपरीत जो हिंसा करनेमें ही प्रवृत्त हो रहा हो वह अजैन होता है । इसके कार्यमें

सहायक होना तो किसी भी अच्छे मनुष्यका काम कभी भी नहीं कहा जा सकता है। यदि कोई अच्छा मनुष्य समुचित कार्य कर रहा हो और आपका उपयोग आत्मध्यान निमग्न न हो तो आपको उसके कार्यमें अपनी पूर्ण शक्तिसे सहायता देकर उसे सम्पन्न करा देना चाहिए; ऐसा ग्रंथकारका कथन है, सो ठीक ही है। ग्रंथकार तो कहते हैं कि आपकी यदि सामर्थ्य भी न हो किन्तु आपके कहनेसे उस कार्यको सम्पन्न कर सकने वाला कोई दूसरा मनुष्य हो तो उसे कह करके भी वह कार्य करा देना चाहिये। अपने आपके लिये किसीसे किसी भी प्रकार की याचना करना मुनिका अपराध माना जाता है परन्तु परोपकारके लिये दूसरेसे प्रार्थना करनेमें भी कोई हानि नहीं है। यही आगे बताते हैं—

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥७३॥
एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥७४॥

बालवृद्धगुरुग्लान वैयावृत्यनिमित्ततः।
लौकिकैः सह संभाषा निन्दिता नास्तु योगिनः ॥७३॥
संयताय प्रशस्तेयं चर्या गेहभृतेत्वसौ।
परमेत्युदिताऽमुष्यात्मशान्तिरनया यतः ॥७४॥

हेय नहीं जो ग्लानादिकके वैयावृत्य निमित्त कहो।
लौकिक जनसे भी सम्भाषण शुभोपयोग विशिष्ट कहो॥
श्रमणोंके तो लिए शस्त यह वैयावृत्य कहाता है।
गेहिजनोंके लिए किन्तु उत्तम शुचि सुखका दाता है ॥३७॥

सारांशः—संघमें एक मुनि बीमार है, इसके वायु प्रकोपसे सन्धि-व्यथा होरही है। ऐसी अवस्थामें उसके पैर दबा देना जैसा कार्य तो वैयावृत्य करनेवाले मुनिकी स्ववशकी बात है परन्तु इतनेसे ही उसकी वह पीड़ा दूर नहीं होसकती है। अतः उसे दूर करके रोगीको शांति पहुँचानेकी दृष्टिसे किसी सद्गृहस्थसे कहा जाता है कि भैयाजी! आपके ध्यानमें कोई भी वातनाशक प्रासुक तेल यदि हो तो लाकर महाराजके

शरीरमें मलदो, ऐसा कहना मुनिके लिए अनुचित नहीं है, किन्तु उसका कर्तव्य है ।

इसीप्रकार गृहस्थोंके भी वैषयिक कार्योंमें नहीं किन्तु दानपूजादिरूप धार्मिक कार्योंमें मुनि यथासंभव भाग लेता है तो इसमें कोई बुराईकी बात नहीं है । हमको हमारे इतिहासमें ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि गृहस्थोंको अपने धर्मकी प्रभावना करनेके लिये, उसकी महिमाको बनाये रखनेके लिये कहीं कहीं विरोधियोंसे युद्ध भी करने पड़े हैं। ऐसी बातके लिए भी परिस्थितिवश होकर मुनियोंको उन्हें प्रोत्साहन देना पड़ा है । इसके लिये प्रभावना अंगमें वज्रकुमार मुनिकी कथा सुप्रसिद्ध है ।

मुनिके लिए ये सब शुभोपयोगकी बातें निंद्य न कही जाकर प्रशंसा योग्य मानी गई हैं । गृहस्थावस्थामें तो इन शुभोपयोगकी बातों का करना ही परम कर्त्तव्य कहा गया है क्योंकि गृहस्थदशामें शुद्धोपयोगका होना सर्वथा असंभव ही है । मुनिके लिये शुभोपयोग गौणरूप है किन्तु गृहस्थके लिए तो वही मुख्यरूप कहा गया है । उनके चित्तकी प्रसन्नताके लिए तो शुभकार्य ही होता है । यह एक तो सत्य श्रद्धा युक्त होता है जो साक्षात् स्वर्ग सम्पदाप्रदायक होकर परम्परा मुक्तिदायक बनता है । दूसरा दुःश्रद्धानयुक्त होता है, यह केवल सात बंध करनेवाला ही होता है, कभी भी मुक्तिदायक नहीं होता है । यही आगे बता रहे हैं—

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं ।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥७५॥
छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।
ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥७६॥

एष धर्मानुरागोऽपि यथापात्रमिहार्थः कृत् ।
विभिन्न क्षेत्र सम्बन्धाद्वीजवत् परिगीयते ॥७५॥
दुःश्रद्धात्मव्रतादीनि सात बन्धाय केवलम् ।
कदाचिदपि नैतानि संसारच्छेदकानि वै ॥७६॥

यह कारुणिकयोग जीवोंमें भिन्न भिन्न फल करता है।
जैसी भूमि बीज वैसा ही हीनाधिक विस्तरता है॥
दुःश्रद्धानयुक्त नियमव्रत तप आदिक जो करता है।
सात बंध करता है उससे शिव न कभी पा सकता है ॥३८॥

सारांशः—जो मुनि जैन शास्त्रानुसार व्रत नियम आदिका यथा शक्ति पालन करनेमें संलग्न हैं फिर भी हृदयकी कुटिलताके कारण अपने श्रद्धानको यथार्थ करनेमें असमर्थ हैं, ऐसे द्रव्यलिंग अवस्थाके धारक जैन साधु भी अपने आचरणमात्रसे केवल पुण्यबंध करके स्वर्ग सम्पदा प्राप्त कर लेते हैं। वहांसे आकर उन्हें संसार भ्रमण ही करना पड़ता है। कभी भी संसारसे मुक्त होनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं।

जो परमार्थका तो स्पर्श भी नहीं करते हैं किन्तु विषय कषायको पुष्ट करनेवाले मार्गका ही समर्थन करते हैं, ऐसे पाखण्डी लोग तो अपनी कायक्लेशरूप चेष्टाके द्वारा पुण्यबंध करके भवनत्रिक देवोंमें ही जन्म धारण करके अपने किये हुए सुकृतका फल भोगकर संसार भ्रमण करते ही हैं। इन्हें आदरपूर्वक दान देनेवालेकी क्या दशा होती है सो अब बताते हैं—

अविदिदपरमत्थेसु य विषयकषायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु ॥७७॥
जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥७८॥

ये सन्ति विषयाधीन कुमार्ग परिपोषकाः।
तेषां पाखण्डिनां सेवा कुदेव नर नामकृत् ॥७७॥
विषयाश्च कषाया ये पापनाम्नानिरूपिताः।
तन्निलीनकुलिंगानां सेवा किं स्याच्छिवप्रदा ॥७८॥

विषयासक्त कुपथ परिपोषक लोगोंकी परिचर्यासे।
नीच देव या नीच मनुजभव पावे सुकृतसपर्यासे॥
विषय कषायोंको आगममें जबकि पाप बतलाया है।
तब उनयुत नर निस्तारक हो यह न समझमें आया है ॥३९॥

सारांश:—जो लोग गृहस्थाश्रमसे मुक्त होकर अपने आपको साधु मानते हुए भी विषय कषायोंको पुष्ट करनेवाले सांसारिक कार्योंमें ही फँसे रहते हैं, जादू टोना आदि करके साधारण (भोले) लोगोंको प्रसन्न करना ही जिन लोगोंका धंधा है, जो रसायन सिद्धि आदिमें लगकर हिंसा करते हुए पापार्जन करने वाले हैं, ऐसे ऐसे लोगोंको ही प्रभावक (चमत्कारी) तपस्वी मानकर उन्हींकी सेवा सुश्रूषा करनेवाले लोग अपनी भद्रचेष्टाके द्वारा जो साधारण पुण्यार्जन करते हैं उसके फलसे आभियोग्य और किल्विषक देवोंमें जन्म लेते हैं।

इनको वहाँ भी निरन्तर अन्य देवोंकी सेवामें संलग्न रहकर पराधीन जीवन बिताना पड़ता है। वहाँसे आकर भाग्यसे यदि मानव जन्म भी मिल जावे तो चांडाल आदिके कुलमें उत्पन्न होकर पराधीनतामें जन्म बिताते हुए पापार्जन करके फिर नरकादि कुगतियोंमें जन्म लेते हैं। विषयानुरागी कुगुरुओंकी सेवा करनेवाला कभी भी संसारसे मुक्त नहीं हो सकता है। विषयानुराग पाप है। पापीका साथ देनेवाला पापके फलसे कैसे बच सकता है? अब संसारतारक गुरुभावसे सेवा करने योग्य कौन पुरुष है? यही बता रहे हैं—

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥७९॥
असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ॥८०॥

शुद्धोपयोगतोयुक्ता यद्वाशुभोपयोगतः ।
अशुभाद्रहितास्तेषां भक्तः सत्सुकृतं व्रजेत् ॥७९॥
पापातिगः स्वयं सर्व जीवेषु समताश्रयः ।
सुगुणग्राहको योगी निस्तारयतु सेवकान् ॥८०॥

पापपंक से रहित हुआ समके समान सब लोगोंको ।
वह सुमार्गगामी होता पाकर गुणमय उपयोगोंको ॥
जो कि अशुभसे दूर शुद्ध या शुभ उपयोग युक्त होवे ।
वह निस्तारक उसके सेवक उत्तम पुण्यपुंज जोवे ॥४०॥

सारांशः—जो यह तेरा है और यह मेरा है, इसप्रकारकी क्षुद्रवृत्ति का त्याग करके समताभावको धारण किये हुए हो, जो प्राणी मात्रको अपने ही समान अनन्त ज्ञानादिके प्राप्त करनेका अधिकारी समझता हो, आप स्वयं सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंका ग्राहक बनकर अपनेसे अधिक गुणवान् के प्रति समादरभाव रखता हो, जहाँ तक हो सके परमात्म चिन्तनमें तल्लीन रहनेवाला हो और कदाचित् इससे उपयोग हट जावे तो इसीमें संलग्न अन्य परमात्मचिन्तक महात्माओंकी सुश्रूषामें लगा रहनेवाला हो, मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्यादि पापवृत्तियोंसे सर्वथा दूर रहनेवाला हो, ऐसा महा योगिराज आप भी संसारसे पार होनेवाला है और अपने भक्तोंको भी निमित्तरूपमें संसारसे पार करनेवाला होता है। वह स्वयं उसी शरीरसे मुक्त बन सकता है। उसकी श्रद्धापूर्वक हृदयसे सेवा करने वाला भी एक दो प्रशस्त जन्म धारण करके सदाके लिये अशरीरी हो जाता है। इसीलिये—

दिट्ठा पगदं वत्थुं अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं ।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥८१॥
अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोषणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं हि ॥८२॥

निर्ग्रन्थं यतिनं दृष्ट्वाभ्युत्थान नमनादिभिः ।
गुणोत्कर्ष विधातव्यं स्वस्येति जिनदेशना ॥८१॥
गुणाधिकानां कर्तव्यं संघेऽपि प्राग्यतीश्वरैः ।
पवित्र मनसा सेवा नमनस्तवनादिभिः ॥८२॥

उसे देखकर चाहिये कि मानव होवे विनयाचारी ।
निजमनमें उसके सुगुणोंकी श्रद्धा रक्खे सुखकारी ॥
गुणियोंके आने पर उठना स्वागत करना नमना भी ।
यथाशक्ति सेवा करना फैलाना यशः कीर्तिका भी ॥४१॥

सारांशः—आत्महितेच्छु साधुको चाहिये कि अंतरंगमें प्रस्फुट होने वाली वीतरागता को प्रगट कर दिखानेवाले निर्विकार निर्ग्रन्थ दिगम्बर वेशके धारक किसी भी तपोधनको अपने सम्मुख आते हुए देखे तो

प्रसन्नता पूर्वक उठकर खड़ा होवे, उसके सम्मुख जावे, हाथ जोड़कर उसे नमस्कार करे, रत्नत्रयकी कुशलता आदि प्रश्नों द्वारा उनकी सुश्रुषा करे। इसप्रकार सत्कारपूर्वक उसे अपने पास स्थान देवे और उसके आसन शयनादिकी समुचित व्यवस्था करे।

फिर तीन दिनके सहवाससे उसके आचार विचार और अपने आचार विचारमें कोई खास अन्तर न पावे तो सदा के लिये भी उसे अपने साथमें रख सकता है, ऐसी जिनशासनकी आज्ञा है। अपने पासमें रहनेवाले साधुओंमेंसे भी अपनेसे अधिक गुणवानोंको प्रथम प्रणाम आदि करना चाहिये। साधुको साधुके अतिरिक्त और किसीको नमस्कार करना ठीक नहीं है। यही आगे बता रहे हैं—

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥८३॥
ण हवदि समणो त्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ॥८४॥

श्रमणैः श्रमणा एव सम्मान्या नाथ गेहिनः।
न च ते श्रमणाभासा गुणग्रहणवांछकैः ॥८३॥
तपसा व्रतविद्याभ्यामपि युक्तो धरातले।
जिनोक्ततत्व श्रद्धातोऽतीतश्चेच्छ्रमणो न सः ॥८४॥

जबकि आप है साधु साधुकी विनय करे तनु वच मन से।
किन्तु नहीं पाखण्डीकी जिससे कि न गुणगौरव विनसे॥
जिसे न हो श्रद्धान जिनोदित जीवादिकका निज मनमें।
वह पाखण्डी श्रुतविद्यातपयुत होकर भी भव वनमें ॥४२॥

सारांशः—गृहस्थोंको तो लौकिक तथा पारमार्थिक कई तरहके प्रयोजन रहा करते हैं अतः गृहस्थ तो धार्मिक सम्पर्कको लेकर जिसप्रकार धर्मगुरु श्री मुनियोंको नमस्कार करता है, उसीप्रकार माता, पिता, राजा और शिक्षक आदिको भी अपनेसे बड़े मानकर नमस्कार किया करता है। उसका ऐसा करना उचित ही है।

मुनिका संबंध केवल एक धर्माचरणसे रहता है। अन्य सब संबंध उसके समाप्त हो जाते हैं। अतः वह धर्माचरणमें अपनेसे विशिष्ट या अपने समकक्ष होगा, उसीके सामने नत मस्तक होगा। गृहस्थ जीवनमें पुत्र पिताको और पत्नी पतिको नमस्कार करे ऐसी लोक मर्यादा है किन्तु पुत्र यदि पितासे पहिले ही साधु होजावे तो उससे आशीर्वाद लेकर अपने कर्मोंको हलका करनेके लिये पिता पुत्रको नमस्कार करता है।

इसीप्रकार पति यदि गृहस्थकी झंझटमें ही फँसा रहे और पत्नी आर्यिका होजावे तो पतिको उसके आगे सिर झुकाना पड़ता है क्योंकि विनयके लिए धर्माचरण ही मुख्य माना गया है। जब ऐसी बात है तब एक उत्तम धर्माचरणी साधु पुरुष होकर धर्माचरणसे भ्रष्ट रहनेवाले हीनाचारी साधुको नमस्कार करे यह कैसे हो सकता है? परन्तु—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥८५॥
गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥८६॥

श्रमणं शासनस्थं च दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यदि।
न नमेद् दूषयेदेनं स भ्रष्टाचरणः स्वयम् ॥८५॥
गुणाधिकात् पुरा स्वयं समिच्छुर्विनयं यदि।
साधुरस्मीति गर्वेणा-नन्तसंसारभृद्धि सः ॥८६॥

जो कि सत्पथाश्रित श्रमणकी ईर्षावश हो काट करे।
धीरे धीरे सच्चरित्रपरसे वह खुद हो जाय परे॥
मैं भी तो मुनि हूँ यों कहकर गुणाधिकोंसे भी पहिले।
अपना विनय चाहता हो वह भव वन में ही डुलेहिले ॥४३॥

सारांशः—आगमानुकूल चलनेवाले साधुका भी यदि कोई समुचित सत्कार नहीं करता है प्रत्युत ईर्षा द्वेषके वश होकर तिरस्कार करता है तो वह स्वयं चरित्रभ्रष्ट है, ऐसा समझना चाहिये। इतना ही नहीं किन्तु मैं भी तो साधु हूँ, मैं कोई कम थोड़ा ही हूँ, इसप्रकार घमण्ड

करते हुए जो कोई अपनेसे अधिक गुणवान् साधुओंसे भी पहिले अपना विनय कराना चाहता हो तो वह चरित्रभ्रष्ट ही नहीं किन्तु सम्यग्दर्शनसे भी भ्रष्ट है। और जो—

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्ठचारित्ता ॥८७॥
णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो णत्थि ॥८८॥

गुणेऽधिकोऽधरानेवं प्रणमन्नपि संयतः ।
च्युत्वा चारित्रतो मोह-मपि गच्छति शीघ्रतः ॥८७॥
स्वयं सम्भावितात्मापि जलवद्वह्नियोगतः ।
लौकिके न समं तिष्ठन् विकारमधिगच्छति ॥८८॥

गुणहीनोंको नमस्कार आदिक करता यति होकर भी ।
व्रतभ्रष्ट तो है ही किन्तु न उसके हैं सम्यक्त्व कभी ॥
श्रुतपाठी उपशमित कपायी आतापनादि तपकारी ।
यदि लौकिकजन संसर्ग करे वह भी हो विकारधारी ॥४४॥

सारांशः—कार्यके प्रति उपादान ही नहीं किन्तु निमित्त भी अपना कुछ अधिकार रखता है। जैसे अग्निके ऊपर रखा हुआ जल अवश्य उष्ण होजावेगा। निमित्तकारणकी इसप्रकारकी अटलताको ध्यानमें रखते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि भाई! यदि तुम सत्य संयमके धारक हो तो भ्रष्टचरित्रोंके साथ कभी सम्पर्क मत करो, उनसे बच कर रहो। अन्यथा तो फिर तुम चाहे कितने ही शास्त्रके पारगामी ज्ञाता हो, कितने ही निष्कषाय शांत परिणामी हो, घोरसे घोर तपश्चरण करनेवाले हो, उन भ्रष्टचरित्रोंके सम्पर्क में रहकर एक न एक दिन तुम भी भ्रष्ट होजाओगे। इसमें संशय मत समझो। इसप्रकार कहकर वे कौनसे लोग हैं? जिनसे बचकर रहना चाहिये और किनके साथमें रहना चाहिये, यही आगे स्पष्ट कहते हैं:—

णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि ॥८९॥

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ॥६०॥

निर्ग्रन्थत्वमपि प्राप्य लगेदैहिककर्मसु।
तपः संयमयुक्तोऽपि लौकिक एव किं परैः ॥८९॥
समशीलान्वितैर्नित्यं गुणमेवाभिलिप्सुभिः।
सम्पर्कमधिगच्छेत् स य इच्छेदात्मनो हितं ॥९०॥

जिनदीक्षाधारक होकर भी ऐहिक कर्म कमाता है।
जादू टोणादिकके द्वारा लौकिक साधु कहाता है॥
अतः गुणाधिकसे अथवा तो स्वसदृश गुणवालेसे ही।
आदान प्रदान रखता है जो दुःख क्षयकर देही ॥४५॥

शङ्काः—गाथामें बताया गया है कि अपने समान गुणवालेके साथ तथा अधिक गुणवालेके साथ सम्पर्क रखना चाहिये। अल्प गुणवालेके साथ नहीं रखना चाहिये। यदि कोई अधिक गुणवालेके साथ अपना सम्पर्क रखना चाहेगा तो उस गुणाधिकके लिए यह भी तो अल्पगुणी ही रहा। फिर वह इसके साथ सम्पर्क क्यों करेगा ? ऐसे व्यवस्था कैसे बन सकेगी ?

उत्तरः—आपने कहा सो ठीक है परन्तु ग्रंथकारका ऐसा कथन नहीं है। यहाँ यह कहा गया है कि मोक्षमार्गी साधकको या तो समगुणी (मार्ग गामी) या अधिक गुणी (मार्ग प्रदर्शक) इन दो के साथमें अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक इन दो को ही अपनाना चाहिये। इनके अतिरिक्त हीन गुणी (कुमार्गी) को कभी नहीं अपनाना चाहिए क्योंकि कुमार्गीको श्रद्धापूर्वक अपनानेसे तो तुम्हें भी कुमार्ग पर ही चलना पड़ेगा, जिससे तुम भ्रष्ट होजाओगे।

यदि कोई कुमार्गी भी अपनी भूल सुधारने के लिए तुम्हारे पास आवे और तुम इस योग्य हो कि उसे बता सकते हो तो उसे उसकी भूल समझाकर सुमार्ग पर लेआवो। उसे भी अपने समान मार्गगामी बना लो। इसमें कोई बुराई नहीं है। यह तो अच्छी ही बात है, मार्ग प्रभावना है। हानि तो तब है कि तुम भी लौकिक चमत्कार करनेमें निरत, किसी भी साधुको देखकर इस प्रलोभनमें आजाओ कि—

अहो ! देखो, इन्होंने अपनी तपस्या या चातुरीसे कैसे कैसे गुण प्राप्त कर लिये हैं जिससे अनेक लोग इनके पास आकर खाजिजी (खुशामद) करते हैं और इनकी सेवामें उपस्थित रहते हैं। इनका ढंग तो हमारेसे भी अच्छा है। इसमें क्या बुराई है ? अस्तु ! इसप्रकार समुचित सदाचारका वर्णन करके अब ग्रंथकार उपसंहार करते हुए कहते हैं कि इस ग्रंथका अनुशीलन करके मुख्य चार बातें जानने योग्य हैं। १ संसार परिभ्रमण, २ संसार परिभ्रमणसे छूटना, ३ संसार भ्रमणसे छूटनेका उपाय और ४ संसारसे छूटे हुए महानुभाव कौन कैसे होते हैं ? ये ही क्रमसे आगे बता रहे हैं—

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये ।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥९१॥
अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा ।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥९२॥
सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध त्ति णिद्दिट्ठा ॥९३॥
सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥९४॥

समये स्थितिमाप्यापि विपरीतार्थवेदिनः ।
संसारेऽस्मिन् सदाकालं मुग्धचित्ता भ्रमन्ति ते ॥९१॥
प्रशान्तात्मोचिताचारी यथार्थं परिणामवान् ।
श्रामण्यं सफलं कुर्वन् स चिरं नेह तिष्ठति ॥९२॥
द्वेधा संगं परित्यज्य विषयेभ्यो विरज्य च ।
स्थितिरात्मन्यहो भूयान् मुक्तेरेषा हि पद्धतिः ॥९३॥
एवं शुद्धस्य श्रामण्यं पूर्णं ज्ञानं सुदर्शनम् ।
यच्छिवं तल्लब्धवते सिद्धायास्तु नमोनमः ॥९४॥

विपरीताभिनिवेशयुक्त जो जीव जैन कहलाकर भी ।
भवभ्रमणसे मुक्त हन्त ! वह हो सकता है नहीं कभी ॥

जो यथार्थ विश्वासयुक्त उचिताचारी प्रशान्तमन हो ।
ऐसा साधु शीघ्र ही इस दुनियांके हो उस पार अहो ॥४६॥

बहिरभ्यन्तर संगरहित तत्वश्रद्धान सहित मनमें ।
अनासक्त उपयोगयुक्त हो वही शुद्ध निज जीवनमें ॥
शुद्धदशामें सच्ची यतिता ज्ञप्ति दृष्टि भी वास्तवमें ।
होकर जीव सिद्ध बन जावे उसको यह कवि सदा नमें ॥४७॥

सारांशः—कोई जीव जैन हो या अजैन हो परन्तु यदि वह गतानुगतिकतादिको लेकर जैनदर्शनका अनुयायी बन रहा हो और जैन शास्त्रानुसार तत्वोंका विश्वास न करके अपनी स्वच्छंदतासे जो औरका और ही मान रहा हो अर्थात् जिस जीवका मत भी अभी तक ठीक न हो पाया हो वह जीव तो अनंत संसारी होता है। उसके संसारका अभाव नहीं हो सकता है क्योंकि संसारके कारण मोहमें वह फंसा हुआ है।

जो मनुष्य अपने मोहकी मंदतासे पदार्थोंके स्वरूपको ठीक ठीक मानने लग गया है, जिसका चित्त शांतदशाको प्राप्त होचुका है अतः जो उचित अनुचितका विचार करते हुए उचित कार्य करनेमें ही अग्रसर होना चाहता है, जो गृहस्थकी झंझटसे उन्मुक्त होकर या तो साधु बन चुका है या साधु बननेको उत्सुक है, साधु दशाको ही सफल मान कर उसको धारण करना चाहता है, ऐसा जीव यद्यपि कुछ समयके लिए संसारमें है परन्तु वह अवश्य मुक्ति प्राप्त करनेवाला है, मुक्ति उससे दूर नहीं है।

जब यह बाह्य परिग्रहकी तरह अभ्यन्तर परिग्रहसे भी सर्वथा उन्मुक्त हो जावेगा, बाह्य परिग्रहका परित्याग कर देने पर भी चिरंतन अभ्यासके कारणसे उन्हीं बाह्य बातोंकी तरफ दौड़ लगानेके लिये परिणमनशील अपने मनको एकान्त आत्म तल्लीन कर लेगा, रागद्वेषसे सर्वथा रहित शुद्ध हो जावेगा तब पुनर्जन्म भी धारण नहीं करेगा। अपने आपको बिल्कुल रागद्वेषसे रहित शुद्ध बना लेना ही मुक्तिका साक्षात् उपाय है।

इस उपायके द्वारा परिशुद्ध होकर अपने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रको पूर्णतया प्राप्त हो जानेका नाम ही मुक्ति है। इसको प्राप्त कर लेनेवाले सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। उन्हें मेरा वारंवार नमस्कार हो। इस परमात्म दशाको प्राप्त करनेका साधन इस शास्त्रका अध्ययन करना है। ऐसा आगे बता रहे हैं अर्थात् इस ग्रंथकी सफलता दिखा रहे हैं—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥९५॥

शास्त्रमेतद् पठेद्यस्तु साधु श्रावक चर्यया।
सारं प्रवचनस्याप्त्वा शीघ्रं याति परं पदं ॥९५॥

दोहा

जो इस पुस्तकको पढ़े मुनि श्रावकाचार।
पालन कर वह पासके झटसे प्रवचनसार ॥४८॥

सारांशः—ग्रंथकार कहते हैं कि जो कोई भी भाई श्रद्धापूर्वक इस शास्त्रको पढ़ेगा वह प्रवचन अर्थात् जैनागमके सारभूत तत्वज्ञानको प्राप्त कर श्रावक या साधुके आचरण को स्वीकार करके, उसके द्वारा शीघ्र ही परमपदको भी प्राप्त कर लेगा। अतः प्रत्येक आत्महितैषी भव्यको इसे अवश्य पढ़ना चाहिये। अन्तमें—

भूला हूँ यदि मैं कहीं बाधान्तोचितलेख।
महापुरुष सोधें उसे लघुमति मुझको देख ॥४९॥
कृपासिन्धु जिनदेवके तत्वों पर विश्वास।
प्रजा करे जिससे टरे बहिरात्म प्रतिभास ॥५०॥
चरित महा उज्ज्वल बने न हो मूढता लेश।
साम्य सदा बढ़ता रहे रहे न ईर्षा द्वेश ॥५१॥
हिंसा चोरी जारी चुगलीसे हटकर रहना।
दीन दुखियोंकी सहाय करनेको श्रम सहना॥
छंदे गुरुलोगोंके चलकर अपनाओ गहना।
दया क्षमा संतोष भावको सब भाई वहिना ॥५२॥

❀ अनुवादककी अन्तिम शुभ भावना ❀



भूतभाविवर्तमाना,
राजन्ते जिननायकाः ।
ममस्मृतिं गता आत्म-
लब्धये स्युः सहायकाः ॥९६॥

कृतार्थः सम्भविष्यामि,
तयाहं जगतीतले ।
प्रयोजनं न मे किंचित्
वर्ततेऽस्यां कृतौ परम् ॥९७॥

चतुराराधनारूपं,
नर्म सम्भवतामदेत् ।
साक्षाच्छिवपदप्राप्ते,
रदः कारणमिष्यते ॥९८॥



परिशिष्ट

(पूज्य श्री १०८ मुनि श्री विद्यासागर जी महाराज द्वारा गद्यानुवाद)

प्रथम अधिकार—

पृष्ठ ४— * चारित्र ही धर्म है। उस धर्मको 'सम' (समभाव) इस नामसे जिनेन्द्र-देव ने निर्देशित किया है। वस्तुतः मोह क्षोभ अर्थात् मिथ्यात्व रागद्वेषादि विभाव परिणामोंसे विहीन आत्माके परिणाम को ही समभाव कहते हैं ॥ गाथा ७ ॥

** जब यह आत्मा जिसरूपसे परिणमनको प्राप्त होता है तब वह तन्मय अर्थात् उसीरूप हो जाता है अतः निर्मल धर्मरूप परिणत आत्मा को धर्म मानने में कोई बाधा नहीं है ॥ ८ ॥

पृष्ठ १३— * ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों को नष्ट करके अनन्तवीर्यको प्राप्त होते हुये उस अतुलनीय, अतीन्द्रिय, ज्ञानरूपी सुखामृतका पान वे सर्वज्ञ वीतराग देव करते हैं ॥ १९ ॥

** ऐसे सुरासुरपतियों से नमस्कृत, पूज्य, इष्टसुखप्रदायक, वीतरागसर्वज्ञदेव पर श्रद्धा रख कर जो जीव उनका ध्यान करता है उसका दुःख शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है ॥ २० ॥

पृष्ठ १५— * अतीन्द्रिय ज्ञानकी उपलब्धि के फलस्वरूप उन सर्वज्ञ देवों के लिए अब ऐसी कोई भी वस्तु नहीं रही, जो प्रत्यक्ष न हो क्योंकि इन्द्रियज्ञान क्षायोपशमिक होता है अतः सावरण एवं परसापेक्ष। किन्तु उनका ज्ञान क्षायिक निरावरण, पर निरपेक्ष होता है अतः उस ज्ञान के लिए कोई भी वस्तु परोक्ष नहीं रहती ॥ २३ ॥

** आत्मा ज्ञानके बराबर रहता है क्योंकि ज्ञान आत्माका गुण है और आत्मा गुणी। गुणको छोड़कर गुणीका परिणमन अन्यत्र नहीं होता है। उसीप्रकार ज्ञानको भी ज्ञेयके बराबर जिनेन्द्रदेवने बताया है। वह ज्ञेय लोक अर्थात षट द्रव्यका पुञ्ज और केवल आकाशमय अलोक है-अतः यह निभ्रान्तरूपसे सिद्ध होता है कि वीतराग जिनेन्द्रदेवका वह अतीन्द्रिय परनिरपेक्ष क्षायिकज्ञान सर्वगत है ॥ २४ ॥

पृष्ठ १७— * ज्ञानी पुरुष ज्ञेय पदार्थोंमें न तो सर्वथा प्रविष्ट होकर ही रहता है और न सर्वथा उनसे पृथक् ही रहता है। जिसप्रकार रूपीपदार्थोंमें बिना

प्रवेश किए आँख पदार्थोंको जानती है, देखती है फिर भी हम लोग कहा करते हैं कि तुम्हारी दृष्टि किस पदार्थमें निहित है ? यद्यपि नेत्र अपने स्थानको छोड़कर जहाँ पदार्थ व्यवस्थित है वहाँ जाते नहीं तथापि इसप्रकारका व्यवहार होता है। इसीप्रकार इन्द्रियज्ञानसे रहित जो केवलज्ञानी है, लोकालोक को जानता है और देखता है ॥ २६ ॥

** जिसप्रकार दूधमें प्रक्षिप्त नीलमणि स्वयं प्रकाशित होते हुए उस सारे दूध को भी अपनी प्रभासे प्रकाशित कर देती है अर्थात् उस श्वेत दुग्ध को भी नीलमय बना देती है, उसीप्रकार ज्ञान भी ज्ञेय पदार्थोंको जानते हुए उन सबको अपने रूप बना लेता है ॥ ३० ॥

पृष्ठ २४— * इस अतीन्द्रिय ज्ञानमें षट् द्रव्योंकी भूतकालकी व भविष्यत्कालकी सब पर्यायें वर्तमानकालकी पर्यायोंकी भाँति प्रतिफलित होती हैं, जो आज तक नहीं उत्पन्न हुई हैं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हुई हैं ये सब असद्भूत पर्यायें इस अतीन्द्रिय ज्ञान की सुस्पष्ट विषय होती हैं ॥३७-३८॥

पृष्ठ ३३— * भूत, भविष्यत्, वर्तमान पर्याय सहित सब पदार्थोंको एक साथ केवलज्ञान जानता है जिसकी महिमा इन पुद्गलात्मक शब्दों द्वारा कैसे गाई जा सकती है अर्थात नहीं गाई जा सकती है ॥ ५१ ॥

** वह केवलज्ञानी शुद्धात्मा इन सब पदार्थोंको जानता हुआ भी उनरूप परिणमन नहीं करता है, उनको ग्रहण भी नहीं करता है और उनमें उत्पन्न भी नहीं होता है। इसलिए वह अबंधक कहलाता है क्योंकि वह रागद्वेषादि विभावपरिणामोंसे रहित होकर जानता है। यदि जानने मात्रसे बंध हो जावे तो आत्मा कभी भी निर्बन्धक नहीं होगा क्योंकि आत्माका तो स्वभाव ही जानना और देखना है। यह बात सत्य है कि हम लोगोंका जानना और केवली भगवानका जानना भिन्न २ है, हम जानते हुए ज्ञेयपदार्थोंको रागद्वेषभावोंके द्वारा पकड़ लेते हैं किन्तु केवलज्ञानी केवल मात्र जानते हैं, रागद्वेष नहीं करते हैं। इसलिए केवलज्ञानी अबन्धक है और हम बंधक हैं, यदि हम भी रागद्वेष छोड़ दें तो निर्बन्ध और केवलज्ञानी बन सकते हैं।

द्वितीय अधिकार (ज्ञेयाधिकार)

पृष्ठ ६७— * यद्यपि द्रव्य छह कहे गए हैं, फिर भी यहाँ पर कुन्दकुन्दाचार्य ने मुख्य रूपसे उनको जीव और अजीवके भेद से दो भागोंमें विभक्त किया है। जीव चेतनात्मक, ज्ञान-दर्शनोपयोगवाला है और पुद्गलादि शेष पाँच

अजीव जड़ अचेतन हैं। सब द्रव्योंको अवकाश देनेमें समर्थ जो आकाश है वह भी दो भागोंमें विभक्त है। जहाँ सब द्रव्योंका निवास है उसको लोक कहते हैं और जहाँ आकाश मात्र है उसे अलोक कहते हैं ॥३५-३६॥

पृष्ठ १००— * स्थानसे स्थानान्तर जानेमें समर्थ जीव, पुद्गल द्रव्योंके गमनमें हेतु धर्मद्रव्य है। अधर्म द्रव्य उन्हीं जीव, पुद्गलोंकी स्थितिमें हेतु है। सब द्रव्य परिणमनशील हैं, उनके परिणमनमें कालद्रव्य हेतु है। जीवका विशेषगुण उपयोग है—इसप्रकार जिनेन्द्रदेवने अमूर्त पाँच द्रव्योंका संक्षेपमें वर्णन किया है ॥ ४१-४२ ॥

पृष्ठ १०६— * इन छह द्रव्योंसे ओतप्रोत लोकाकाश है जो अनादि अनन्त है। उसको जो जानता है वह जीव है। यह चार प्राणोंसे युक्त है। इन चार प्राणोंके उत्तरभेद दस हैं—५ इन्द्रिय, ३ बल, १ आयु, १ श्वासोच्छ्वास ॥ ५३-५४ ॥

पृष्ठ १०६— * इन चार प्राणोंके द्वारा जो भूतकालमें जी चुका है, वर्तमानमें जी रहा है और भविष्यत् कालमें जीयेगा, वह जीवद्रव्य है किन्तु ये चारों प्राण पुद्गलद्रव्य निर्मित हैं ॥ ५५ ॥

** यह संसारी आत्मा मोह, रागद्वेषमय भावोंको सदैव करता रहता है इसलिए इन पुद्गलात्मक चार प्राणोंको धारण कर लेता है और धारण करके उदयागत कर्मफलको इन चारोंके द्वारा रागद्वेषपूर्वक भोगता रहता है अतः अन्य पुद्गलकर्मोंसे बँधता है ॥ ५६ ॥

पृष्ठ ११०— * जीव यद्यपि ज्ञानदर्शनोपयोगवाला है तथापि इस संसारी जीवका उपयोग शुभरूप और अशुभरूप ही है। जब इस आत्माका उपयोग शुभ होता है तब पुण्यरूप पुद्गल कर्मोंके द्वारा यह आत्मा बँधता है और जब उपयोग अशुभ होता है तब पापमय पुद्गल कर्म आकर बँधते हैं। किन्तु जब यह संसारी जीव शुभाशुभोपयोगोंको त्यागकर निज शुद्धात्मतत्वका श्रद्धान करता है और उसीको जानते हुए उसीरूप आचरण करता है तब पुद्गल कर्मोंसे नहीं बँधता है ॥ ६३-६४ ॥

** कोई जीव जब परमपूज्य वीतराग जिनेन्द्र भगवानके स्वरूपको जानता है अर्थात् उनका ध्यान करता है, समस्तकर्मोपाधि से रहित सिद्ध परमेष्ठी को देखता है अर्थात् उनके स्वरूपका भी ध्यान करता है और बाह्याभ्यन्तर परिग्रहविहीन साधु-परमेष्ठीका भी ध्यान करता है तथा

समस्त जीवों पर अनुकम्पा रखता है, तब वह शुभोपयोगी होता है अर्थात् उसका वह उपयोग शुभ है ॥ ६५ ॥

*** इन्द्रियविषयोंमें जो तल्लीन हैं, कषायों से जो संतप्त हैं और विषयवासना को उत्तेजित करनेवाले शास्त्रोंको पढ़नेमें जो रुचि रखते हैं तथा वीतराग सर्वज्ञदेवनिर्दिष्ट मार्गसे विपरीत चलनेवाले हैं ऐसे मार्गभ्रष्ट जीवोंका उपयोग अशुभ होता है अर्थात् वे जीव अशुभोपयोगी कहलाते हैं ॥६६॥

य अधिकार (चारित्राधिकार)

१४८— * मुनियोंके द्वारा जो हिंसा होती है वह भिन्न जाति की है। यदि कोई मुनि प्रमादयुक्त होकर शयन करता है, ईर्यापथ समिति विहीन होकर चलता है और पिच्छिकादि उपकरणों को देखे शोधे विना रखता उठाता है, तो उसकी यह चेष्टा या प्रवृत्ति ही हिंसा है अर्थात् उस मुनिके द्वारा सर्वदा हिंसा होती ही रहती है ॥ १७ ॥

** जीव मरे अथवा न मरे इससे हिंसा व अहिंसा नहीं जानी जाती है किन्तु असंयत भाव अर्थात् प्रमादपूर्वक आचरण करना ही उस श्रमण को हिंसक बनाता है। समितिके साथ आचरण करते हुए मुनिके द्वारा किसी जीवका वध हो भी जाये तो भी वह श्रमण हिंसक नहीं ॥ १८ ॥

३ १६६— * वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत द्वादशाङ्गरूप द्रव्यश्रुत का जो अध्ययन नहीं करता है, द्रव्यकर्म, भावकर्म और नो कर्मसे रहित शुद्धात्मा को जो नहीं जानता है, वह मुनि अर्थ परिज्ञानके विना कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है ॥ ५३ ॥

** सब जीवोंके चक्षु समान नहीं होते। सामान्य शरीरधारियोंके चक्षु चर्म चक्षु हैं, देवताओंका चक्षु अवधिज्ञान है तथा परमात्मा का, ज्ञान ही चक्षु है किन्तु साधुपरमेष्ठियों के लिए तो आगम ही चक्षु है।



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	१२	जैनाचार्यों न	जैनाचार्यों ने
१७	३	सर्वा नात्मार्थान्	सर्वानात्मार्थान्
१७	२६	ज्ञेयेसु	ज्ञेयेषु
२१	१८	स्पष्टदृष्टा	स्पष्टद्रष्टा
२२	२३	प्रथक्	पृथक्
२५	८	दीव्यता	दिव्यता
३५	२१	रहा रहा है	रहा है
३८	२३	ओग्गहादिर्हिं	ओग्गहादिहिं
३६	२२	दृष्टा	द्रष्टा
४२	२४	यत्तलव्धं	यत्तल्लव्धं
४२	२५	निशाम्यापि	निशम्यापि
४७	२१	निरावंण	निरावरण
५७	५	पश्चासौ	यश्चासौ
५७	६	रागदोषौ	रागद्वेषौ
५६	२४	रागरोपाभ्यां मस्य	रागरोषाभ्यामस्य
७३	८	अन्यथा तो फिर सव	अन्यथा सव
७६	१४	वैक्रियक	वैक्रियिक
८५	१६	विधिय····	विधेय
११८	२७	८३	८६

